मुद्रा और विनिमय के सिद्धान्त

लेखक :
गिरिराज प्रसाद गुप्त, एम. कॉम.
प्रोफेसर ऑफ बैंकिंग
बिड़ला कॉलेज, पिलानी ।

लेखक की अन्य पुस्तकें—

१. भारतीय मुद्रा का इतिहास (१८००–१९५१)

२. भारतीय बैंकिंग का विकास।
  भूमिका—डा० कृष्णकुमार शर्मा, एम. ए., पी-एच. डी.

३. अवमूल्यन की प्रतिक्रियाएँ।

४. हमारी आर्थिक समस्याएँ।

५. राजस्व (अर्थ प्रबन्धन) के मूल सिद्धान्त।

६. भारत का आर्थिक इतिहास (प्रेस में)

प्रथम बार : १९५२

मूल्य : प्रथम भाग ३)
  द्वितीय भाग ४)
  सम्पूर्ण ६।।)

अपनी बात

'मुद्रा और विनिमय' का विषय जितना गम्भीर है उतना ही आवश्यक भी है। पिछले कुछ वर्षों में संसार के मौद्रिक-क्षेत्र में जो फेर-बदल हुई उनके कारण वर्तमान-युग में मुद्रा और विनिमय के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन-मनन एक अनिवार्य विषय बन गया है। डॉलर की समस्या, मुद्राओं का अवमूल्यन, मुद्रास्फीति, विनिमय-नियन्त्रण आदि ऐसे विषय हैं जिन्हें समझने के लिए मुद्रा के सिद्धान्तों को जानना परम आवश्यक है। हमारे सभी विश्व-विद्यालयों में यह विषय अनिवार्य-रूप से विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। परन्तु अब तक यह काम आंग्ल-भाषा माध्यम के द्वारा होता रहा। आंग्ल-भाषा में इस विषय पर अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। परन्तु हमारी राष्ट्र-भाषा—हिन्दी—में इस विषय की उच्च कोटि की पुस्तकों का भारी अभाव रहा है—अभाव ही क्यों पुस्तकें हैं ही नहीं। पिछले तीन चार वर्षों में कुछ विश्वविद्यालयों ने हिन्दी माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा देने के प्रयत्न किए हैं परन्तु उचित पाठ्य ग्रन्थों के अभाव में उनको उतनी सफलता नहीं मिल सकी है। निस्सन्देह, कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं परन्तु वे वांछित-स्तर तक नहीं पहुँच सकी हैं। या तो ऐसी पुस्तकें मिलती हैं जिन्हें आंग्ल-भाषा की पुस्तकों में से विषय से अपरिचित हिन्दी-लेखकों ने अनुवाद कर डाला है और या ऐसी पुस्तकें देखने में आती हैं जिन्हें लिखने में हिन्दी से अपरिचित विषय के अध्यापकों ने प्रयोग स्वरूप लिखने का प्रयास किया है। इन दोनों ही प्रकार की पुस्तकों में विषय और भाषा का उचित समावेश, योग और प्रतिपादन नहीं हो सका है। या तो भाषा के अभाव में विषय पर कुठाराघात कर दिया गया है और या विषय के अभाव में भाषा को दण्डित कर दिया गया है। कुछ भी हो—इस विषय पर उच्च-कोटि के ग्रन्थ तब तक नहीं निकल सकते जबतक कि वे हिन्दी भाषा से सुपरिचित विषय-शास्त्रियों द्वारा न लिखे गये हों। यही कारण है कि 'मुद्रा और विनिमय' पर अनेक पुस्तकें होते हुए भी उनसे विद्यार्थियों की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो पा रही। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने उक्त सभी कठिनाइयों को पहिचानकर प्रयत्न किया है कि विषय का प्रतिप्रादन करते करते भाषा में भी चमत्कार बना रहे और विषय-सामग्री की दृष्टि से भी —

पुस्तक को विश्व-विद्यालयों की उच्च परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम के अनुकूल बनाने के लिए लेखक ने अधिक-से-अधिक आवश्यक सामग्री भर देने का प्रयास किया है—सामग्री विशेषतः विदेशी लेखकों के ग्रन्थों में से जुटाई गई है। मूल सिद्धान्तों को भली-भांति स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर देश के मौद्रिक इतिहास में से घटनाओं का उल्लेख किया गया है जिससे भारतीय विद्यार्थी सिद्धान्तों को समझने के साथ-साथ उन्हें भारतीय मुद्रा के इतिहास में समायोजित कर सकें और इस प्रकार उनसे भली-भांति परिचित भी हो सकें। लेखक का सतत् प्रयास रहा है कि भाषा सरल, मुहावरेदार और मंजी हुई रहे। इसमें वह कहाँ तक सफल हो सका है —इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकेंगे।

हिन्दी-पुस्तकों के सम्बन्ध में आज कल एक बड़ी समस्या हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों की है। विषय से सम्बन्धित कोई मान्य शब्दावली न होने के कारण लेखकों को इस ओर काफी कठिनाई रहती है। कहीं कोई शब्दावली मानी जा रही है तो कहीं कुछ और अपनाया जा रहा है। इस प्रकार देश के विभिन्न क्षेत्रों में इस विषय में अपनी-अपनी अलग-अलग खिचड़ी पकाई जा रही है। वैसे तो सरकार का काम है कि वह प्रत्येक विषय की हिन्दी शब्दावली निर्धारित करे, जैसा कि संविधान की भाषा के लिए किया गया है परन्तु यदि सरकार ऐसा नहीं कर रही है तो विश्व-विद्यालयों को मिल कर यह काम करना चाहिए। अस्तु, लेखक ने कोई मान्य शब्दावली न होने के कारण, सरल-से-सरल शब्दों का प्रयोग किया है जिससे देश के सभी भागों में इस पुस्तक से लाभ उठाया जा सके। यह भी पाठक ही निश्चित करेंगे कि इसमें लेखक को कितनी सफलता मिल सकी है।

लेखक स्वयं अपने विषय में क्या कहे। प्रयत्न पाठकों के सम्मुख है। यदि लेखक के इस प्रयास से हिन्दी का कोई भी हित हो सका और विषय को प्रगति मिल सकी तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक मानेगा। पुस्तक की त्रुटियों की ओर यदि पाठक लेखक का ध्यान आकर्षित करें तो लेखक आभारी होगा और अगले संस्करण में उन त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करेगा।

पुस्तक लिखने में लेखक को प्रो० रामशंकर याज्ञिक से सदैव प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है—इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की रचना में लेखक को अपनी पत्नी से पर्याप्त सहायता मिली है। पाण्डु-लिपि को दोहराने में लेखक को श्री. रामनिवास जाजू से पर्याप्त सहयोग मिला है। वह भी इसके लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

जुलाई १९, १९५२

—लेखक

१—वस्तु-विनिमय व उसकी कठिनाइयाँ

विनिमय की आवश्यकता–विनिमय के भेद–वस्तु-विनिमय व उसकी कठिनाइयाँ—मुद्रा का विकास–मुद्रा-वस्तु के गुण—उपयोगिता और मूल्य, लाने-ले जाने की सुविधा, टिकाउपन, विभाज्यता, स्वरूप-परिचय, सजातीयता, मूल्य की स्थिरता, गलाने की सुविधा आदि-आदि।

२—मुद्रा का महत्व

मुद्रा का महत्व—मुद्रा की क्रियाएँ–मुद्रा की परिभाषा–मुद्रा के दोष।

३—मुद्रा के भेद (सिक्के)

मुद्रा के भेद—क़ानूनी-मुद्रा, सीमित क़ानूनी-मुद्रा, असीमित क़ानूनी-मुद्रा; धातु-मुद्रा (सिक्के)—सिक्के तथा सिक्का-ढलाई-आदर्श सिक्का-प्रणाली के लक्षण—सिक्का-ढलाई के भेद–स्वतन्त्र-सिक्का-ढलाई, सरकारी सिक्का-ढलाई, निःशुल्क सिक्का-ढलाई—स्वतन्त्र एवं निःशुल्क सिक्का-ढलाई का भेद—सिक्कों के भेद—प्रामाणिक या प्रमुख सिक्के, सांकेतिक, प्रतीक या सहायक सिक्के—रुपये का सिक्का क्या है ? भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली।

४—मुद्रा के भेद (नोट)

पत्र-मुद्रा—पत्र-मुद्रा के भेद—प्रतिनिधि–रूप नोट, परिवर्तनीय नोट, अपरिवर्तनीय नोट—नोटों के गुण-धर्म—नोटों से लाभ—नोटों से हानियाँ—अपरिवर्तनीय-नोटों के अवगुण—नोटों के चलनाधिक्य के कारण और लक्षण—अपरिवर्तनीय सिक्के—नोट-संचालन के सिद्धान्त और कुछ समस्याएँ—बैंकिंग-सिद्धान्त, करेंसी-सिद्धान्त—नोट कौन चलाए–सरकार या बैंक ? एक बैंक या अनेक बैंक ?—बैंक द्वारा नोट-संचालन के कुछ सिद्धान्त–क्या काग़ज़ के नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं ? नोट चलाने की आधुनिक प्रणालियाँ—स्थायी महत्तम-सीमा प्रणाली, स्थायी विश्वसनीय प्रणाली, आनुपातिक-कोष प्रणाली आदि—आनुपातिक-कोष प्रणाली तथा स्थायी विश्वसनीय प्रणाली का भेद—नोट चलाने की आदर्श प्रणाली—भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था—भारतीय नोट-व्यवस्था के दोष।

५—मुद्रा के भेद (साख-मुद्रा)

साख एवं साख-मुद्रा—साख का अर्थ-साख का लेन-देन–साख-मुद्रा–साख-पत्र या साख-मुद्रा ? साख-मुद्रा के भेद—साख-संस्थाएँ–साख का महत्त्व–साख के दोष–साख और पूँजी–क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है ? क्या साख पूँजी का सृजन करती है ? साख और वस्तुओं के भाव—साख की घटत-बढ़त–भारत में साख-व्यवस्था।

६—मुद्रा के चलन के मूल-सिद्धान्त (ग्रेशम का नियम)

ग्रेशम का नियम—'बुरी' एवं 'अच्छी' मुद्राएँ—नियम की विचित्रता—नियम के तीन रूप—एक-धातुवाद में नियम, द्विधातुवाद में नियम तथा सम्मिलित मुद्रा व्यवस्था में नियम की सार्थकता—नियम के अपवाद—ग्रेशम का नियम और योरुप—भारत और ग्रेशम का नियम—सरकार द्वारा मुद्राओं के चलन पर रोक।

७—मुद्रा का मूल्य (मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त)

मुद्रा का मूल्य—मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त—'जैसी की तैसी परिस्थितियाँ—' सिद्धान्त का नया रूप—मुद्रा की 'माँग' और 'पूर्ति'—प्रो० फिशर का फार्मूला—सिद्धान्त के विरोध में युक्तियाँ—सिद्धान्त की आलोचना—सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता—भारत और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त—मुद्रा के चलन की गति (वेग)—'चलन की गति' का अर्थ, गति और मूल्य-स्तर, गति में फेर बदल के कारण—साख की गति-शीलता।

८—मुद्रा का मूल्य (मुद्रा का मूल्य-परिवर्तन)

मुद्रा-स्फीति—अर्थ, कारण, प्रभाव—भारत में मुद्रा-स्फीति—मुद्रा-संकुचन—अर्थ, कारण, प्रभाव—मुद्रा-संकुचन और मूल्य-स्तर—मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन—मुद्रा-अपस्फीति—मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन—मुद्रा-संस्फीति—मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति—मूल्य-वृद्धि—मूल्य-ह्रास—आदर्श मूल्य-स्तर की कल्पना—अवमूल्यन—कारण, प्रभाव—भारतीय रुपये का अवमूल्यन।

९—मुद्रा का मूल्य (निर्देशांक)

मुद्रा की क्रय-शक्ति मापने की विधि—निर्देशांक, मूल्य-निर्देशांक बनाने की विधियां—सामान्य-निर्देशांक, भारशील निर्देशांक—निर्देशांक तैयार करने में सावधानी की आवश्यकता ?—निर्देशांक बनाने में अड़चनें—निर्देशांकों की उपयोगिता—अन्य प्रकार के निर्देशांक—औद्योगिक दशा-निर्देशांक, आर्थिक दशा के निर्देशांक, निर्वाह-व्यय-निर्देशांक—इङ्गलैण्ड और अमेरिका में निर्देशांक व्यवस्था—भारत में निर्देशांक-व्यवस्था।

१०—मुद्रा-प्रमाप पद्धतियाँ

मुद्रा-प्रमाप पद्धति—एक-धातुवाद—रजत-प्रमाप, भारत में रजत-प्रमाप—स्वर्ण-प्रमाप—स्वर्ण प्रमाप के भेद—(१) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप, (२) स्वर्ण-धातु-प्रमाप, (३) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप, (४) स्वर्ण-कोष-प्रमाप—(१) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के गुण-दोष—स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की स्वयंपूर्ण कार्यशीलता—स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप का तिरस्कार—(२) स्वर्ण-धातु प्रमाप के गुण-दोष—इङ्गलैण्ड और भारत में स्वर्ण-

द्विधातुवाद के गुण—द्विधातुवाद की ऐतिहासिक झांकी—क्या अब द्विधातुवाद सम्भव है ?—द्विधातुवाद के विभिन्न रूप–(१) पंगु-प्रमाप, (२) समानान्तर-प्रमाप, (३) नव-द्विधातुवाद, (४) निर्देशांक प्रमाप, (५) मिश्रित-धातु प्रमाप—आदर्श धातु प्रमाप के लक्षण—वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप ।

११—स्वर्ण-प्रमाप की ऐतिहासिक झांकी

स्वर्ण-प्रमाप की ऐतिहासिकता—प्रथम युद्ध पूर्व कालीन स्वर्ण-प्रमाप—प्रथम युद्ध काल में स्वर्ण-प्रमाप की स्थिति—युद्धोत्तर कालीन स्वर्ण-प्रमाप—इङ्गलैण्ड में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति (१९२५)—भारत में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति (१९२७)—अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति—युद्ध पूर्व कालीन एवं युद्धोत्तर कालीन स्वर्ण-प्रमाप का तुलनात्मक विवेचन—स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग (१९३१-२६)—अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष का स्वर्ण-प्रमाप—स्वर्ण की स्थिति ।

१२—विदेशी विनिमय

'विदेशी-विनिमय, का अर्थ—अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान चुकाने के ढंग–विदेशी विनिमय-बिलों की कार्य प्रणाली—विनिमय-दर—विनिमय-दर समता निर्धारित करने के ढंग—स्वर्ण-बिन्दु–स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु, स्वर्ण-आयात-बिन्दु—क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त—सिद्धान्त की आलोचना, सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व, भारत में इस सिद्धान्त का प्रयोग—विनिमय सम्बन्धी स्वयं-सिद्धियां—विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण—व्यापारिक परिस्थितियाँ, बैंकिंग परिस्थियाँ, स्टॉक-एक्सचेंज की परिस्थितियाँ—विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले अन्य कारण—अन्य सरकारी लेन-देन, मौद्रिक परिस्थितियाँ, राजनैतिक परिस्थितियाँ, विनिमय-नियंत्रण—अन्तर्देशीय लाभार्जन क्रियाएँ—लाभार्जन-क्रियाएँ तथा सट्टे का लेन-देन—अग्र-विनिमय (Forward Exchange) विनिमय-समातुलन-लेखे (Exchange Equalization Accounts)

१३—विदेशी विनिमय (विनिमय-नियंत्रण)

विदेशी-विनिमय-नियन्त्रण—नियंत्रण के उद्देश्य—विनिमय-नियंत्रण के उपाय—हस्तक्षेप की नीति, प्रतिबन्ध की नीति—विनिमय-नियंत्रण के परोक्ष ढंग—विनिमय नियंत्रण के उपायों पर एक दृष्टि – भारत में विनिमय-नियंत्रण की व्यवस्था—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय-स्थायित्व ।

१४—भारतीय-चलन का इतिहास (१)

अध्याय १

वस्तु-विनिमय व उसकी कठिनाइयाँ; मुद्रा का विकास; मुद्रा-वस्तु के गुण।

आज का युग मुद्रा का युग है। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है तथा हमारी समृद्धि आज मुद्रा पर ही निर्भर समझी जाती है। मुद्रा के द्वारा ही हम वस्तुएँ ख़रीदते हैं, नौकरों का वेतन चुकाते हैं तथा मुद्रा के द्वारा ही देशी और विदेशी व्यापार का लेन-देन होता है। कहने का अर्थ यह है कि संपत्ति का वर्तमान संगठन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग—सभी आर्थिक क्रियाएँ आज मुद्रा के कारण ही सम्भव हैं। परन्तु यह समझना भूल होगी कि मुद्रा और मुद्रा का वर्तमान रूप जो आज हम देखते हैं, मनुष्य के आदि काल से ही चला आ रहा है। प्राचीन समय में आज से बहुत पहिले न मुद्राएँ थीं और न विनिमय का और कोई साधन था। उस समय मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक नहीं थीं जितनी आज हैं। उस समय प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ अपने आप पैदा करता या बना लिया करता था। यदि किसी समय उसे ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती जिसे वह स्वयं न पैदा कर सकता तो वह अपनी वस्तु का दूसरे मनुष्य की उस वस्तु से अदल-बदल कर लिया करता था। मान लो, एक मनुष्य के पास गेहूँ होता और दूसरे के पास कपड़ा होता तो दोनों अपनी अपनी वस्तुओं का आपस में अदल-बदल कर लिया करते जिससे दोनों की खाने और पहिनने की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। वस्तुओं के अदल-बदल की इस प्रथा को अर्थशास्त्र में हम 'वस्तु-विनिमय' (Barter) के नाम से पुकारते हैं। धीरे-धीरे मनुष्य ने उन्नति की और उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ीं मनुष्य ने वस्तु पैदा करने या बनाने के नए-नए साधन भी खोज निकाले। अब उसे वस्तुओं के अदल बदल में कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं।

(१) वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ

(१) वस्तु-विनिमय की सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि आवश्यकता के समय ऐसे दो मनुष्यों का सम्मेलन होना बहुत कठिन है जो अपनी-अपनी वस्तुओं के बदले में एक-दूसरे की वस्तुओं का लेना-देना स्वीकार कर लें। मान लो, एक आदमी के पास बैल है और वह उसके बदले में कपड़ा चाहता है। दूसरे आदमी के पास कपड़ा है, परन्तु वह उसके बदले में बैल नहीं चाहता, परन्तु गेहूँ चाहता है। तीसरे आदमी के पास गेहूँ है, परन्तु उसे न बैल की आवश्यकता है और न कपड़े की :-

आवश्यकता है, परन्तु घोड़े की आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति में इन लोगों में वस्तु-विनिमय कैसे हो सकता है; क्योंकि जिन लोगों के पास जो वस्तुएँ हैं उनमें पारस्परिक माँग और पूर्ति के साधन मेल नहीं खाते। इसलिए वस्तु-विनिमय प्रणाली में ये लोग अपनी-अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकते हैं। यही वस्तु-विनिमय का सब से बड़ा दोष है। अब मुद्रा के चलन के द्वारा यह कठिनाई दूर हो गई है। हर-एक आदमी अब अपनी-अपनी वस्तुओं को मुद्रा के बदले में बाज़ार में बेच सकता है और मुद्रा के बदले में कोई भी वस्तु बाज़ार से ख़रीद सकता है।

(२) वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई विषम मूल्य की अखण्ड वस्तुओं के बंटन की है। यदि किसी समय दो ऐसे मनुष्य मिल भी जाएँ जिनमें से हर-एक की आवश्यकता एक-दूसरे की वस्तु की हो और वे दोनों अपनी-अपनी वस्तुओं का अदल-बदल करने को तैयार भी हों तो उन वस्तुओं के बंटन की एक बड़ी समस्या है। मान लो, एक आदमी के पास घोड़ा है और उसे एक चाकू की आवश्यकता है। उसे ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय जिसके पास एक चाकू हो और जो उस चाकू के बदले में घोड़ा लेने को तैयार भी हो तो भी यह विनिमय सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि चाकू कम मूल्य का है और घोड़ा अधिक मूल्यवान् है। ऐसी अवस्था में चाकू के बदले में घोड़ा काट कर तो दिया नहीं जा सकता और न कोई लेना ही पसन्द करेगा। अतः चाकू वाले और घोड़े वाले की आवश्यकताएँ एक-दूसरे की वस्तुओं से पूरी नहीं हो सकेंगी।

मुद्रा के द्वारा यह कठिनाई सरलता से दूर हो सकती है। घोड़े वाला मनुष्य अपने घोड़े को बाज़ार में मुद्रा के बदले में बेच देगा और उस मुद्रा-राशि में से थोड़ी-सी ख़र्च करके चाकू ख़रीद लेगा।

(३) वस्तु-विनिमय की तीसरी कठिनाई यह है कि उसमें वस्तुओं के मूल्य को आँकने का कोई आधार नहीं है। मान लो, एक मनुष्य के पास गेहूँ है और दूसरे के पास कपड़ा है। दोनों आपस में अपनी-अपनी वस्तुओं का अदल-बदल करना चाहते हैं। लेकिन यह कैसे निश्चय किया जाय कि कितने गेहूँ के बदले में एक गज़ कपड़ा मिले या एक सेर गेहूँ के बदले में कितना कपड़ा दिया जाय।

मुद्रा के द्वारा यह कठिनाई दूर हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में व्यक्त कर सकता है और तब वस्तुओं के आपस के मूल्य निश्चित किए जा सकते हैं।

(२) मुद्रा का विकास

वस्तु-विनिमय की इन कठिनाइयों के कारण एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो विनिमय का माध्यम हो और जिसके द्वारा सब वस्तुओं का मूल्य आँका जा सके। ऐसी वस्तु आजकल के शब्दों में "मुद्रा" हो सकती थी। अतः भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं को "मुद्रा" या "विनिमय-माध्यम" के लिए काम में लाया जाता रहा है। एक समय था जबकि लोग शिकार मार कर कच्चा मांस खाते थे। उस समय जानवरों की खाल या उनके बालों को ही 'मुद्रा' या विनिमय का माध्यम बनाया गया था। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य बनता गया विनिमय के आधार भी बदलते गए। उस समय जबकि लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे उन्हें अपने साथ गाय बैल रखने पड़ते थे। उन लोगों ने तब गाय, बैल, भेड़ आदि को ही मुद्रा या विनिमय का माध्यम मान लिया था और इन्हीं के द्वारा वे अन्य वस्तुओं का मूल्याङ्कन करते थे। उन लोगों ने इन जानवरों को विनिमय का माध्यम इसलिए भी बनाया कि ये जानवर अपने आप एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते थे। इनको लाने ले जाने की कोई मुसीबत न थी। इसी प्रकार कौड़ी, हड्डी, पत्थर, लकड़ी, पेड़ की छाल आदि भी विनिमय का माध्यम बनाए गए। परन्तु ये वस्तुएँ ऐसी थीं जो कहीं भी किसी भी व्यक्ति को मिल सकती थीं। इनका अधिकाधिक मात्रा में सरलता से उपलब्ध होना उत्तरोत्तर इनकी उपयोगिता को घटाने का कारण बनता गया। अतः इनके द्वारा अन्य वस्तुओं का मूल्य आंकना ठीक नहीं समझा गया। जिस स्थान के आर्थिक जीवन में जिस वस्तु का अधिक महत्व होता था उसी वस्तु को विनिमय का माध्यम बना लिया जाता था। इसी कारण से एक समय था जबकि भारत में चावल, वर्जीनिया में तम्बाकू, एबीसीनिया में नमक, अरब में खजूर मिश्र में रुई, आदि वस्तुएँ विनिमय-माध्यम या "मुद्रा" के काम में लाई जाती थीं। परन्तु इन वस्तुओं के लेन-देन में बड़ी कठिनाई होती थी तथा ये वस्तुएँ थोड़े समय में सड़-गल भी जाती थीं। इसलिए इन वस्तुओं को भी छोड़ दिया गया। इसके बाद धातु का युग आया जिसमें तांबे, पीतल, निकिल, लोहे आदि की मुद्राएँ बनाई जाने लगीं। मिश्र में ताँबा और स्पार्टा में लोहे के सिक्के बनते थे। धीरे-धीरे सभ्यता और बढ़ती गई, और लोहे, तांबे या पीतल के स्थान पर चांदी व सोने के सिक्के काम आने लगे। सोना-चांदी दुर्लभ धातु हैं इसलिए इनके सिक्के अधिक समय तक चलते रहे हैं। परन्तु जैसे-जैसे युग बदलता गया लोग सोना और चांदी इकट्ठा करते गए। सरकारों ने भी सोने-चांदी को ख़ज़ाने में रखना ही ठीक समझा और उनके स्थान पर कागज़ की मुद्रा चला दी गई। आज सोने के सिक्के कहीं नहीं चलाए जाते। इस प्रकार विनिमय का आधार समय-समय पर बदलता रहा। अब प्रायः चाँदी, तांबा, निकिल तथा कागज़ की मुद्राएँ काम में लाई जाती हैं।

हमने देखा कि भिन्न-भिन्न देशों में समय समय पर अनेक प्रकार की वस्तुओं

को मुद्रा माना गया और फिर उनका उपयोग मुद्रा के लिए ठीक न समझ कर उन्हें छोड़ दिया गया। अन्त में सब देशों में मुद्रा के लिए सोना और चांदी ग्रहण कर लिए गए। अतः यह समझना आवश्यक है कि उस वस्तु में जिसकी मुद्रा बनाई जाएँ कौन-कौन से गुण होने चाहिएँ और क्या सोने-चांदी में वे सब गुण पाये जाते हैं ?

(३) मुद्रा-वस्तु के गुण

(१) उपयोगिता और मूल्य (Utility and Value)

जो वस्तु मुद्रा बनाने के काम में लाई जाय उसमें सबसे पहिला गुण तो यह होना चाहिए कि वह उपयोगी और मूल्यवान् हो। उस वस्तु में एक ऐसा गुण हो जिससे वह मनुष्य की आवश्यकताओं व इच्छाओं को शान्त कर सके। उपयोगिता मुद्रा का प्रधान गुण है। चमड़ा, अनाज, चाय, तम्बाकू, नमक, गाय आदि सब वस्तुएँ, जो समय-समय पर मुद्रा के रूप में चलती रहीं थीं, उपयोगी और मूल्यवान थीं। यहाँ तक कि हड्डियों के टुकड़े भी जो मुद्रा के रूप में चलते रहे थे, उपयोगी थे। उस समय लोग इन हड्डियों के आभूषण बनाकर पहिना करते थे और इन आभूषणों को वे लोग मूल्यवान् समझते थे। इसीलिए ये हड्डियाँ मुद्रा के रूप में चलती थीं। स्वयं वह वस्तु जिसकी मुद्रा बनाई जाय मूल्यवान् होनी चाहिए क्योंकि जब तक उस वस्तु का अपना कुछ मूल्य नहीं होगा तब तक लोग उसे अपनी वस्तुओं के बदले में लेना कभी पसन्द नहीं करेंगे। जो वस्तु स्वयं मूल्यवान् नहीं है वह दूसरी वस्तुओं का मूल्य मापने का काम कभी नहीं कर सकती।

सोने और चाँदी में जो आजकल मुद्रा के काम आते हैं ये दोनों गुण पाये जाते हैं। ये दोनों धातु उपयोगी भी हैं और मूल्यवान् भी। संसार का प्रत्येक व्यक्ति हर समय इन्हें मुद्रा के रूप में ही नहीं वरन् धातु के रूप में भी लेने को तैयार रहता है।

कुछ लोगों का कहना है कि मुद्रा बनाने के लिए मुद्रा-वस्तु का उपयोगी और मूल्यवान् होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। उन लोगों का तर्क है कि कागज़ के नोटों और चेकों में काम-आने वाले कागज़ की न कोई उपयोगिता है और न उसका कोई मूल्य है परन्तु फिर भी वे मुद्रा का काम करते हैं। इस विषय में श्री जेवन्स का उत्तर यह है कि कागज़ के नोट और चेक मुद्रा के रूप में इसलिए चलते हैं कि लोगों को यह विश्वास होता है कि इनके बदले में सोना-चांदी या सोने-चांदी के सिक्के मिल सकते हैं। यदि किसी समय भी लोगों का यह विश्वास टूट जाय तो नोट और चेकों का चलना उसी समय बन्द हो जायगा और तब वे मुद्रा न रहेंगे। इस विषय में हमें यह समझ लेना चाहिए कि मुद्रा के दो रूप होते हैं। (१) मूल्य-मापक मुद्रा, जो देश में वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य मापती है। (२) विनिमय-साध्य मुद्रा, जो देश में वस्तुओं व सेवाओं के लेन-देन में सहायता करती है। विनिमय-साध्य मुद्रा की वस्तु आज के युग में ऐसी हो सकती है जो स्वयं न उपयोगी हो और न मूल्यवान् जैसे नोट, चेक आदि। परन्तु मूल्य-मापक मुद्रा की वस्तु अनिवार्य रूप से उपयोगी और मूल्यवान् होनी चाहिए।

हमारे देश में कागज़ के नोटों का कागज़ न उपयोगी है और न मूल्यवान्। फिर भी नोट विनिमय-साधन का काम करते हैं। परन्तु रुपया जो इन सब का मूल्य मापता है ऐसी मुद्रा है जिसकी धातु उपयोगी भी है और उसका नाम के लिए कुछ मूल्य भी है।

(२) लाने-लेजाने की सुविधा (Easily Portable)

वह वस्तु जिसकी मुद्रा बनाई जाय ऐसी होनी चाहिए जिसके लाने-लेजाने में सुविधा रहे। न तो वह इतनी भारी हो कि जिसे लाने-लेजाने की मुसीबत रहे और न इतनी हलकी हो कि आँधी में उड़ जाय। ऐसी वस्तु हो जिसका बोझ या आकार तो कम और छोटा हो परन्तु मूल्य अधिक हो। प्राचीन काल में काम आने वाली मुद्रा-वस्तुएँ जैसे बैल, अनाज, चमड़ा, तेल, लोहा आदि या तो बहुत भारी थीं और या उनका आकार इतना बड़ा था जिससे उन्हें लाने-लेजाने में बड़ी असुविधा होती थी। इन वस्तुओं की अपेक्षा सोने और चांदी में यह गुण अधिक मात्रा में पाया जाता है। जिस वस्तु के लाने-लेजाने में सुविधा हो और कम ख़र्च हो उस वस्तु के मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं हुआ करते। इसीलिए लोहे की अपेक्षा चांदी के मूल्य में और इन दोनों की अपेक्षा सोने के मूल्य में कम उतार-चढ़ाव होते हैं। और जिस वस्तु के मूल्य में उतार-चढ़ाव कम होते हैं वही वस्तु मुद्रा बनाने के लिए सर्वोत्तम समझी जाती है। लाने-लेजाने की सुविधा के दृष्टि-कोण से तो कागज़ के नोट ही आदर्श मुद्रा कहे जा सकते हैं। अतः आजकल कागज़ की मुद्रा ही बहुत काम में लाई जाती है।

(३) टिकाऊपन (Durability)

मुद्रा-वस्तु का तीसरा गुण यह होना चाहिए कि वह टिकाऊ हो अर्थात् अधिक समय तक रखने के बाद भी उसमें कोई ख़राबी न आए। मुद्रा को लोग प्रायः इकट्ठा करते हैं और उसे दूर-दूर स्थानों पर ले जाते हैं। यदि वह वस्तु शीघ्र ही नष्ट होने वाली होगी तो मुद्रा का यह कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकेगी। प्राचीन समय में मुद्रा के रूप में काम आने वाली वस्तुओं जैसे अनाज, तेल, मछली आदि में यही दोष था कि वे थोड़े समय के बाद ही सड़ या गल जाती थीं। सोने-चांदी में ऐसी बात नहीं है। बहुत समय तक रखने पर भी इनमें कोई ख़राबी नहीं आती। बहुत से कंजूस तो चांदी के रुपयों और सोने की गिन्नियों को ज़मीन में गाड़ कर छिपा देते हैं और बहुत वर्षों के बाद निकालते हैं परन्तु फिर भी उनमें कोई ख़राबी नहीं आती। इस दृष्टि-कोण से कागज़ के नोट ठीक नहीं समझे जाते क्योंकि आग या पानी से वे शीघ्र ही नष्ट हो सकते हैं।

(४) विभाज्यता (Divisibility)

मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसका विभाजन किया जा सके। विभाजन से हमारा अर्थ यह है कि उस वस्तु को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटा जा सके परन्तु काटने से उसके मूल्य में कोई कमी या ख़राबी न हो। कटे हुए सब टुकड़ों का मूल्य

मिलाकर उसके सर्वाङ्ग मूल्य के बराबर हो जाय। प्राचीन काल में मुद्रा के रूप में काम आने वाले चमड़ा तथा जानवर को काटना सम्भव नहीं था। और यदि उन्हें काट भी लेते थे तो उनके वास्तविक मूल्य में कमी हो जाती थी। सोने-चाँदी को टुकड़ों में काटा जा सकता है और टुकड़ों को गला कर फिर एक पूरा टुकड़ा बनाया जा सकता है। परन्तु फिर भी उनके मूल्य में कोई ख़राबी या कमी नहीं होती। जितना बड़ा सोने या चाँदी का टुकड़ा होता है उसका उतना ही मूल्य होता है। छोटा या बड़ा टुकड़ा काटने से मूल्य भी उसके अनुपात में ही कम या अधिक हो जाता है, परन्तु कुल मूल्य में कोई कमी नहीं आती। अतः मुद्रा बनाने के लिए सोना-चांदी बहुत उपयुक्त वस्तु समझी जाती है।

(५) स्वरूप-परिचय (Cognisability)

मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो सरलता से पहिचानी जा सके ताकि खोटे-खरे और भले-बुरे की पहिचान करने में देर न हो। मुद्रा का काम लेन-देन का होता है और यदि लेन-देन करने से पहिले मुद्रा-वस्तु की जाँच पड़ताल करने में देर लगे कि यह वस्तु अच्छी है या बुरी, खरी है या खोटी, सच्ची है या झूठी, नक़ली है या असली तथा साधारण अनपढ़ लोगों को उसे पहिचानने में कठिनाई हो तो मुद्रा के लेने-देने में अधिक समय भी लगेगा और तब हर एक व्यक्ति उसे सरलता से स्वीकार भी नहीं करेगा। इसलिए वह वस्तु जिसकी मुद्रा बनाई जाय ऐसी होनी चाहिए जिसको साधारण से साधारण, अनपढ़ से अनपढ़ और बुद्धू से बुद्धू आदमी भी आसानी से पहिचान सके। वह वस्तु ऐसी हो कि किसी भी समय, किसी भी स्थान पर, किसी भी मौसम में, किसी भी मनुष्य के पास तथा किसी भी रूप में सरलता से पहिचानी जा सके। सोने-चाँदी में यह गुण होता है। सोना-चांदी चाहे सिक्के के रूप में हों, चाहे धातु के रूप में हों और चाहे आभूषण के रूप में हों आसानी के साथ पहिचाने जा सकते हैं। सिक्कों में भी चाहे चाँदी का रुपया हो, चाहे अठन्नी हो और चाहे चवन्नी हो चाँदी को पहिचानने में कोई कठिनाई नहीं होती। जवाहिरात या हीरा-मोती के साथ यह बात नहीं होती। इनको पहिचानने के लिए जौहरी की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिए इनकी मुद्राएँ नहीं बनाई जा सकतीं।

(६) सजातीयता (Homogeneity)

मुद्रा-वस्तु ऐसी हो कि उसमें से यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएँ बनाई जाएँ तो उन मुद्राओं के रूप में या मूल्य में किसी प्रकार की कोई भी ख़राबी न आने पावे। उन मुद्राओं की यदि तोल एक-सी हो तो उनका मूल्य भी एक-सा हो। हीरा, मोती या जवाहिरात में यह बात नहीं पाई जाती। एक ही रूप-रंग, एक ही तोल तथा एक ही आकार के दो जवाहिरात भिन्न-भिन्न मूल्य के हो सकते हैं परन्तु एक ही रूप, एक ही आकार और एक ही तोल के दो सोने के टुकड़े प्रायः भिन्न-भिन्न मूल्य के नहीं हो सकते। इसीलिए सोने-चाँदी को मुद्रा बनाने के काम लाया जाता है परन्तु जवाहिरातों की मुद्राएँ नहीं बनाई जा सकतीं।

(७) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)

मुद्रा-वस्तु का मूल्य प्रायः स्थिर होना चाहिए। समय-समय पर या भिन्न-भिन्न स्थानों पर मुद्रा-वस्तु के मूल्य में विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए। वैसे तो कोई भी वस्तु ऐसी नहीं हो सकती जिसके मूल्य में कभी कोई कमी-बेशी ही न आवे परन्तु मुद्रा-वस्तु के मूल्य में कोई भारी-भारी अन्तर या उतार-चढ़ाव नहीं होने चाहिएँ। मुद्रा का हम संग्रह करते हैं तथा मुद्रा के द्वारा ही उधार लेने-देने का काम होता है। इसलिए यदि मुद्रा-वस्तु के मूल्य में कोई उतार-चढ़ाव हुए तो संग्रह के काम में या उधार लेने-देने के काम में बाधा आ सकती है। सब जानते हैं कि यदि किसी वस्तु का मूल्य जल्दी-जल्दी घटे-बढ़े तो उस वस्तु का कोई भी संग्रह नहीं करेगा। अतः मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तु में कम से कम और थोड़े से थोड़े उतार-चढ़ाव होने चाहिएँ। प्राचीन काल में एक समय अनाज को ही मुद्रा मान लिया गया था। परन्तु उसमें यही कठिनाई रही कि इसका मूल्य समय-समय पर और स्थान-स्थान पर बदलता रहता था। जब नई फ़सल आती तो अनाज की मात्रा बढ़ जाती और उसका मूल्य बहुत कम हो जाता था और जब फ़सल का समय समाप्त हो जाता था और माँग बढ़ जाती थी तो मूल्य बढ़ जाता था। इसीलिए आगे चल कर अनाज को मुद्रा मानना छोड़ दिया गया। इसी प्रकार की असुविधाएँ दूसरी वस्तुओं में भी थीं। सोने-चांदी में यह बात नहीं है। सोने और चांदी के मूल्य में इतने भारी-भारी उतार-चढ़ाव नहीं होते। वैसे तो विद्यार्थी आगे देखेंगे कि १८७० से १८९२-९३ तक चांदी के भाव बुरी तरह गिरे और इसी प्रकार सोने के भावों में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं परन्तु सोने-चाँदी के मूल्य में इतने भारी-भारी उतार-चढ़ाव और फ़ेर-बदल नहीं होते जितने अन्य वस्तुओं के मूल्य में होते रहते हैं। इसीलिए सोने-चाँदी को मुद्रा बनाने के लिए सब से अधिक उपयुक्त वस्तु समझा जाता है।

(८) गलाने की सुविधा (Malleability)

मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह आसानी से गलाई जा सके और गला कर फिर उसकी मुद्रा बनाई जा सकें। न तो वह इतनी सख़्त हो कि वह गल ही न सके और न वह ऐसी नरम हो कि मोम की भांति धूप में पिघल जाय या जेब में कपड़े की गरमी पाकर रसदार बनने लगे। सोने और चांदी में यह गुण अधिक मात्रा में पाया जाता है। सोने-चांदी के सिक्के बनाने के लिए सोने-चांदी को आसानी से गलाया जा सकता है और सिक्के बनाए जा सकते हैं। जब सिक्के घिस जाते हैं तो उन्हें फिर गला कर नए सिक्के बनाने के काम में लाया जा सकता है। लोहे या प्लेटीनम में यह गुण नहीं होता क्योंकि इन्हें गलाना कठिन बात है। इसीलिए सोने-चांदी को उत्तम मुद्रा-वस्तु माना जाता है।

हमने देखा कि प्राचीन समय से आज तक अनेक वस्तुओं को मुद्रा माना गया और मुद्रा बनाने के काम में भी लाया गया। परन्तु उन सब वस्तुओं में कोई न कोई दोष था। कोई वस्तु जल्दी सड़ जाती थी, किसी का मूल्य स्थिर नहीं रहता था, किसी

के पहिचानने में देर होती थी तो किसी को लाने-ले जाने में असुविधा होती थी। अतः उन सब वस्तुओं का प्रयोग कर करके उन्हें छोड़ा जाता रहा। अन्त में सोने-चांदी को इस काम के लिए अधिक उपयुक्त वस्तु समझा गया और इसी की मुद्रा बनने लगीं, परन्तु अब तो समाज और भी आगे बढ़ गया है। सोने-चांदी के स्थान पर अब कागज़ की मुद्रा अर्थात् नोट चलने लगे हैं। अब प्रत्येक मनुष्य नोटों में ही लेन-देन करना पसन्द करता है क्योंकि इसमें लाने-ले जाने की व लेने-देने की सुविधा रहती है। सरकार भी अब सोने-चांदी को ख़ज़ाने में रखने लगी है और उनके बदले में कागज़ के नोट चला दिए जाते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इससे सोना-चांदी नष्ट नहीं होता और ख़ज़ाने में सुरक्षित बना रहता है। दूसरे, इस समय संसार में इन धातुओं की मांग बढ़ने लगी है और इनकी पूर्ति इनकी मांग की अपेक्षा कम है। अतः कागज़ के द्वारा इस मांग को पूरा किया जाता है। सोने-चांदी को तो लोग अब आभूषण बनाने के काम लाते हैं। एक समय था जबकि सोने और चांदी के सिक्के चलाना किसी देश में गौरव की बात मानी जाती थी। भारत ने भी पिछली शताब्दी में सोने के सिक्के चलाने के अटूट प्रयत्न किये थे। परन्तु अब वह समय है जबकि सोने के सिक्के चलाना असभ्यता का चिन्ह माना जाता है। आज सोने के सिक्के चलाने के ये अर्थ निकाले जाते हैं कि जनता का सरकार में और सरकार का जनता में आपसी विश्वास नहीं है। इसलिए ऊपर लिखे मुद्रा-वस्तु के गुणों का आज के युग में कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।

प्रश्न

१. 'वस्तु-विनिमय' से आप क्या समझते हैं? समझा कर लिखिए तथा वस्तु-विनिमय प्रणाली के दोषों पर भी प्रकाश डालिए।

२. 'वस्तु-विनिमय' की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए समझाइये कि वस्तुओं के लेन-देन में 'मुद्रा' की आवश्यकता क्यों हुई?

३. मुद्रा के ऐतिहासिक विकास पर एक टिप्पणी लिखिए।

४. मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तु के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए समझाइये कि क्या आजकल मुद्रा बनाने के काम में आने वाली वस्तुओं में ये सब गुण पाये जाते हैं?

५. आधुनिक काल में वस्तु-विनिमय प्रणाली फिर इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों होती जा रही है? सकारण उत्तर दीजिए।

६. "मुद्रा का विकास होता रहा है और होता रहेगा"—इस कथन की सत्यता पर प्रकाश डालिए।

७. सोने में मुद्रा-वस्तु के कौन-कौन से गुण पाए जाते हैं? क्या आपकी राय में मुद्रा बनाने के लिए सोना एक आदर्श वस्तु है? सतर्क उत्तर लिखिये।

अध्याय २

मुद्रा का महत्व; मुद्रा की क्रियाएँ; मुद्रा की परिभाषा; मुद्रा के दोष

(१) मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

आज के सभ्य समाज में मुद्रा का बहुत महत्व है। वस्तुओं का लेन-देन, देशी और विदेशी व्यापार, बड़े-बड़े उद्योग, विशाल उत्पादन, सरकारी लेन-देन सभी कुछ मुद्रा के द्वारा ही चलते हैं। मनुष्य-जीवन का प्रत्येक कार्य आज मुद्रा पर केन्द्रित है। यहाँ तक कि कलाकार, लेखक, कवि, नाटककार और सम्पादक की सेवाओं को भी मुद्रा में ही आंका जाता है और उनकी सेवाओं के बदले में मुद्रा ही चुकाई जाती हैं। आधुनिक काल में मनुष्य वस्तुओं का उत्पादन केवल अपने लिए ही नहीं करता वरन् अपने परिवार, पड़ौसी, समाज, देश और विदेशों के लिए भी करता है। प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ अपने आप पैदा करता या बना लिया करता था। परन्तु अब बड़े-बड़े विशाल कारख़ानों में वस्तुएँ बना कर उन्हें देश-विदेशों में बेचा जाता है। यह सब कुछ मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सका है। मुद्रा के द्वारा ही लोग अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ और सेवाएँ ख़रीदते हैं। एक महान् उद्योगपति से लेकर एक छोटे से किसान-मज़दूर तक सभी मुद्रा के द्वारा ही अपनी-अपनी वस्तुएँ और सेवाएँ बेचते हैं। एकाकी व साझेदारी का व्यापार, व्यापारिक कम्पनियाँ, कम्पनियों के हिस्सों की ख़रीद-बेच, सरकारी ऋणों का लेना-देना तथा उधार आदि सब कुछ मुद्रा के द्वारा ही होते हैं। मुद्रा के बिना कोई भी सरकार जनता की सेवा नहीं कर सकती।

मुद्रा के द्वारा वस्तुओं का मूल्य आंका जाता है तथा वस्तुओं का अदल-बदल भी मुद्रा के द्वारा होता है। वस्तुओं का अदल-बदल बढ़ने से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है; इसलिए मुद्रा एक प्रकार से उत्पादन बढ़ाने में सहायता करती है। मुद्रा के कारण समाज में श्रम-विभाजन (Division of Labour) बढ़ता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सुविधा से वे ही वस्तुएँ बनाता या पैदा करता है जिनके लिए वह अधिक योग्य होता है या जिनके बनाने के लिए उसके पास अच्छे साधन होते हैं। और तब इन वस्तुओं का मुद्रा के द्वारा दूसरी वस्तुओं से अदल-बदल कर लिया जाता है। अस्तु, मुद्रा होने से अब प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ बनाने या पैदा करने की ज़रूरत नहीं है। वह केवल वे वस्तुएँ बनाने लगता है जिनके लिए वह अधिक निपुण होता है और अपनी वस्तुओं को मुद्रा में बदल कर उस मुद्रा से अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीद लेता है। इस प्रकार मुद्रा के होने से श्रम की विशेषज्ञता या निपुणता (Specialization of Labour) बढ़ती

है अर्थात् कुछ लोग कुछ वस्तुएँ बनाने में निपुण हो जाते हैं और दूसरे लोग दूसरी वस्तुएँ बनाने में दक्ष हो जाते हैं। हर एक मनुष्य को हर एक वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं होती। मुद्रा के होने से हर एक व्यक्ति अपनी-अपनी वस्तुओं का ठीक-ठीक मूल्य आँक सकता है और जब चाहे तभी बाज़ार में जाकर बेच सकता है। यदि मुद्रा न होती तो वस्तुओं के अदल-बदल की इतनी सुविधाएँ नहीं होतीं, जितनी आज हैं। तब उत्पादन भी इतना नहीं बढ़ सकता था जितना आज बढ़ गया है। आज तो प्रत्येक व्यक्ति केवल वर्तमान आवश्यकताओं के लिए ही नहीं वरन् भविष्य के लिए भी निडर होकर उत्पादन बढ़ा-बढ़ाकर उत्पादित सामग्री संचित करता जाता है और जब चाहता है तभी मुद्रा के बदले में उसे बेच देता है। इससे देश के प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक विदोहन किया जा सकता है। अतः मुद्रा के होने से ही श्रम-विभाजन, श्रम-निपुणता तथा उत्पादन बढ़ता है, जिससे व्यापार और उद्योगों की उन्नति होती है और देश के आर्थिक साधनों का अधिक से अधिक विकास भी किया जा सकता है। मुद्रा के होने से ही उत्पादन और वितरण में प्रतियोगिता (Competition) बढ़ती है जिससे वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने में नए-नए साधनों की खोज होती है।

मुद्रा के होने से पूंजी गतिशील (Mobile) बनती है अर्थात् मुद्रा के द्वारा पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है। पूंजी सम्पत्ति-उत्पादन करने का एक साधन होता है। मकान, कच्चा माल, मशीनें, गोदाम आदि वस्तुएँ पूंजी हैं और सम्पत्ति बनाने के काम में आती हैं। मुद्रा के द्वारा इन सब वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। इसलिए हम कहते हैं कि मुद्रा पूंजी प्राप्त करने का एक यन्त्र है। मुद्रा के द्वारा ही पूंजी को एक स्थान से दूसरे ऐसे स्थान पर ले जाया जा सकता है जहाँ उसका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके। मुद्रा के द्वारा पूंजी का अधिकार ऐसे व्यक्तियों को दिया जा सकता है जो उसका अधिक से अधिक उपयोग कर सकें। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनके पास पूंजी-गत वस्तुएँ होती हैं परन्तु वे उनका अधिक से अधिक उपयोग नहीं करते तथा कुछ लोग ऐसे होते हैं जो इन वस्तुओं का उपयोग करना जानते हैं परन्तु उनके पास वे वस्तुएँ नहीं होतीं। मुद्रा के द्वारा इन दोनों प्रकार के लोगों की कठिनाई दूर हो सकती है। मुद्रा के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे लोगों से (जो अपनी-अपनी वस्तुओं का उपयोग नहीं कर सकते) उनकी वस्तुएँ ख़रीद कर उत्पादन के काम में ला सकता है। आजकल व्यापारिक-कम्पनियाँ जो कि पूंजी का उपयोग करने में दक्ष होती हैं, अपने हिस्से बेच कर दूसरे लोगों से पूंजी इकट्ठी कर लेती हैं और उस पूंजी के द्वारा उत्पादन बढ़ाती हैं। यदि मुद्रा न हो तो यह बात सम्भव नहीं हो सकती। ऋणों का लेन-देन भी मुद्रा के कारण ही सम्भव है। मुद्रा के द्वारा ही आज

का लिया ऋण भविष्य में चुकाया जा सकता है। यदि मुद्रा न होती तो आज जैसा ऋण का लेन-देन सम्भव नहीं हो सकता था।

मुद्रा के द्वारा सामाजिक स्वतन्त्रता बढ़ी और बढ़ती रही है। मुद्रा न होने से मज़दूरों की मज़दूरी का भुगतान पहिले अनाज, कपड़ा आदि वस्तुएँ देकर चुकाया जाता था। (बहुत-सी जगह आज भी ऐसा होता है) इससे मज़दूरों को बड़ी हानि होती थी क्योंकि तब न तो उन्हें उनकी मेहनत का पूरा-पूरा मूल्य ही मिलता था और जो कुछ मिलता भी था उसमें सड़ी-गली वस्तुएँ दे दी जाती थीं। मुद्रा होने से यह बुराई दूर हो गई है। अब मज़दूरी मुद्रा में चुकाई जाती है जिससे मज़दूर भी अपनी मज़दूरी से जो कुछ चाहता है, ख़रीद लेता है। पहले उसका मालिक जो वस्तुएँ देता था उसे लेनी पड़ती थीं। परन्तु अब मज़दूर को मुद्रा दी जाती हैं जिनकी सहायता से अब मज़दूर इच्छानुसार अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है।

मुद्रा के द्वारा राष्ट्रीय तथा राजनैतिक संगठन में भी सहायता मिलती है। मुद्रा के आविष्कार से पहले देश के अन्दर न प्रान्त-प्रान्त का आपसी व्यापार था और न विदेशी व्यापारिक लेन-देन होता था, न आने-जाने तथा माल लाने-लेजाने के आज जैसे साधन थे और न व्यापार की सहायता के लिए आज जैसी बैंक की सुविधाएँ थीं। गाँव-गाँव में आवश्यकता की सभी वस्तुएँ पैदा करने का प्रयत्न किया जाता था और वहीं पर लोग अपनी-अपनी वस्तुओं का आपस में अदल-बदल कर लिया करते थे। लोगों की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं और जो वस्तुएँ उन्हें नहीं मिल पाती थीं उन वस्तुओं की आवश्यकताएँ असन्तुष्ट छोड़ दी जाती थीं। आज की तरह गाँव के लोग न शहरों पर निर्भर थे और न वे लोग शहरों में आकर मण्डियों में माल बेचते थे। जो जहाँ रहता था वहीं खुश था। एक स्थान के लोग दूसरे स्थान के लोगों को जान भी नहीं पाते थे। परन्तु मुद्रा के अमूल्य आविष्कार ने इन सब अभावों पर आक्रमण किया और शनैः-शनैः ये सब लुप्त होने लगे। आज आवागमन और माल लाने-लेजाने के नए-नए साधन बन गए। गाँव और शहरों के जीवनयापन का पारस्परिक अवलम्बन बढ़ा। शहरों में गाँव से आने वाले अन्न की सदा प्रतीक्षा रहती है व ग्रामीण अपना माल बेचने और अन्य आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिए शहरों की शरण लेते हैं। व्यापारी देश के प्रत्येक भाग में भ्रमण कर नए सम्बन्ध, स्नेह और राष्ट्रीय भावना को जन्म दे रहे हैं। गाँवों और शहरों की सभ्यता की गहरी खाई पारस्परिक परिचय प्रेम व सहयोग के पुल द्वारा पार की जा रही है। यह सब कुछ मुद्रा के आविष्कार का प्रसाद है जिसने व्यापारिक सुविधाएँ देकर देश-विदेश को भी इतना समीप ला दिया है।

संक्षेप में बात यह है कि वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की सभी क्रियाएँ आज मुद्रा के कारण ही सम्भव हैं। समाज के प्रत्येक अंग को मुद्रा से लाभ पहुँचता

है। छोटा हो या बड़ा, बालक हो या वृद्ध, ग़रीब हो या अमीर, स्त्री हो या पुरुष सभी की आवश्यकताएँ आज मुद्रा की सहायता से पूरी होती हैं। जेवन्स नामक एक अर्थ-शास्त्री ने लिखा है "क्योंकि हम अपने जीवन के आरम्भ से ही मुद्रा को देखते और प्रयोग करते आए हैं इसलिए हमें मुद्रा के वास्तविक महत्व और उसके द्वारा होने वाले लाभों का अनुभव नहीं हो पाता। यदि हम समाज के बहुत प्राचीन रूप को देखें जबकि वर्तमान मुद्रा का चिन्ह भी न था तो हमें मुद्रा के न होने से होने वाली मुसीबतों का सहज ही पूरा-पूरा ज्ञान हो जायगा। और तभी हम मुद्रा के वास्तविक महत्व को समझ भी सकते हैं।" मुद्रा सभ्यता के इतिहास का एक चिन्ह है और मानव के आर्थिक विकास का द्योतक है। मुद्रा के द्वारा ही व्यापार, उद्योग और कृषि की उन्नति सम्भव हुई। मुद्रा और मानव की सभ्यता का एक ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिसमें यह कहना कठिन है कि मुद्रा के कारण सभ्यता का विकास हुआ या सभ्यता के कारण मुद्रा का विकास हुआ। रॉबर्टसन नामक एक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि "मनुष्य मुद्रा के द्वारा ही अपनी क्रय-शक्ति का अनुमान लगाता है। मुद्रा के द्वारा ही समाज में यह पता लगाया जा सकता है कि लोगों को किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है। क्या वस्तु पहले बनानी चाहिए और कितनी मात्रा में बनानी चाहिए तथा उस वस्तु का महत्तम उपयोग कैसे करना चाहिए।" आदम स्मिथ ने मुद्रा के महत्त्व का इन शब्दों में बखान किया है—

> "जिस प्रकार आवागमन के साधन होने से एक स्थान का अन्न दूसरे स्थान पर पहुँचाया जा सकता है ठीक उसी प्रकार मुद्रा के होने से एक देश की वस्तुएँ दूसरे देशों में लाई जा सकती हैं। यदि किसी देश में बिलकुल अन्न पैदा न होता हो यहाँ तक कि घास भी पैदा न होती हो—ऐसे देश को भी मुद्रा की सहायता से अन्न से भरपूर किया जा सकता है।" अतः मुद्रा एक प्रकार का ऐसा साधन है जिस पर मनुष्य की भावी सभ्यता निर्भर है।

मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन का उसके आर्थिक जीवन से विशेष सम्बन्ध होता है और आर्थिक जीवन का विकास मुद्रा पर निर्भर होता है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि आज मनुष्य की सर्वाङ्गी उन्नति का मुख्य कारण मुद्रा है और भावी उन्नति भी मुद्रा के कारण ही सम्भव होगी।

मनुष्य ने अब तक जितने भी खोज और अनुसन्धान किए हैं उन सब में मुद्रा का विशेष स्थान है। प्रत्येक ज्ञान का मनुष्य ने एक मूल आधार खोज निकाला है। यंत्र-विद्या (Mechanics) का मूल आधार घूमने वाला पहिया (Wheel) है जिस पर सारी यंत्र विद्या टिकी हुई है। विज्ञान का मूल आधार अग्नि (Fire) है। राजनीति का मूल आधार मत (Vote) है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक क्रियाओं का मूल आधार मुद्रा (Money) है जिस पर अर्थ-शास्त्र का सारा कलेवर टिका हुआ है।

(२) मुद्रा की क्रियाएँ (Functions of Money)

मुद्रा का महत्व समझने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा की क्या-क्या क्रियाएँ हैं। मुद्रा की क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) मुख्य क्रियाएँ—ये क्रियाएँ वे हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक-जीवन की प्रत्येक स्थिति में करनी पड़ती हैं। इन क्रियाओं को अति आवश्यक (Essential) क्रियाएँ भी कहते हैं।

(२) अन्य क्रियाएँ—ये क्रियाएँ वे हैं जो मुद्रा को समाज के आर्थिक जीवन की केवल उन्नत स्थिति में ही करनी पड़ती हैं। इन क्रियाओं को मुख्य क्रियाओं की सहायक क्रियाएँ भी कह सकते हैं।

१—मुख्य क्रियाएँ (Essential Functions)

(१) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)

मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है अर्थात् इसके द्वारा एक वस्तु को बेच कर दूसरी वस्तु ख़रीदी जाती है। मनुष्य अपनी किसी भी वस्तु को मुद्रा के बदले में बेच कर उस मुद्रा की सहायता से फिर दूसरी वस्तु ख़रीद सकता है। वस्तु-विनिमय करने में वस्तुओं को वस्तुओं में बदला जाता था परन्तु अब एक वस्तु को पहिले मुद्रा में बदला जाता है और मुद्रा को फिर दूसरी वस्तु में बदल लिया जाता है। इस प्रकार मुद्रा के द्वारा वस्तुओं के अदल-बदल में अब सुविधा होती है। वस्तुओं की ख़रीद-बेच करने में विनिमय की केवल एक ही क्रिया होती थी अर्थात् वस्तु को वस्तु में बदल लिया जाता था। परन्तु मुद्रा के द्वारा अब वस्तुओं की ख़रीद-बेच करने में विनिमय की दो क्रियाएँ होती हैं अर्थात् एक बार वस्तु को मुद्रा में बदला जाता है और फिर उस मुद्रा को वस्तु में बदल लिया जाता है। अब वस्तुओं की ख़रीद-बेच मुद्रा के द्वारा होती है।

विनिमय-माध्यम का काम मुद्रा को समाज के आर्थिक जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में करना पड़ता है। देश की उन्नत आर्थिक व्यवस्था में तो इस क्रिया का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। यह क्रिया मुद्रा की मुख्य क्रिया मानी जाती है।

(२) मूल्यांकन का साधन (Measure of Value)

मुद्रा की दूसरी मुख्य क्रिया यह है कि वह सब वस्तुओं का मूल्यांकन करती है। क्योंकि सब वस्तुओं का अदल-बदल मुद्रा के द्वारा होता है इसलिए मुद्रा उन वस्तुओं के मूल्य को मापने का साधन है। मुद्रा सब वस्तुओं का मूल्य माप कर उन वस्तुओं के आपस का अनुपात निर्धारित कर देती है। मान लो एक रुपये के दो सेर गेहूँ मिलें और एक रुपये के चार सेर चने मिलें तो १ सेर गेहूँ का मूल्य २ सेर चने होगा। मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को मापने का एक यंत्र है। जिस प्रकार गर्मी थर्मामीटर से मापी जाती है, बिजली किलोवाट में मापी जाती है और कपड़े

की लम्बाई गजों में मापी जाती है, उसी प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मुद्रा के द्वारा मापा जाता है।

(३) मूल्य-संचय करने का साधन (Means to store Value)

मुद्रा मूल्य-संचय (इकट्ठा) करने में सहायता करती है। हर एक व्यक्ति भविष्य के लिए मूल्य इकट्ठा करके रखना पसन्द करता है। यदि वह वस्तुएँ इकट्ठा करे तो वे थोड़े समय के बाद सड़-गल सकती हैं तथा उनके मूल्यों में फेर-बदल भी हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति मे वस्तुओं या जानवरों को रख कर मूल्य इकट्ठा नहीं किया जा सकता। मूल्य इकट्ठा करने का काम मुद्रा से लिया जाता है, साधारणतया जिसके न तो रूप-रंग में कोई ख़राबी आती है और न जिसके मूल्य में विशेष घटने-बढ़ने का कोई डर रहता है।

मूल्य का हस्तांतरण भी मुद्रा के द्वारा बड़ी आसानी से किया जा सकता है।

कुछ लोगों का कहना है कि जो वस्तु मूल्य संचय (इकट्ठा) करने के काम आती हो वह विनिमय-माध्यम का काम नहीं कर सकती। परन्तु यह बात ग़लत है क्योंकि जो वस्तु मूल्य इकट्ठा करने के योग्य नहीं हो वह विनिमय-माध्यम का काम कदापि नहीं कर सकती। यदि यह मान लिया जाय कि मूल्य-सचय के काम आने वाली वस्तु विनिमय का माध्यम नहीं हो सकती तो फिर काम में आने वाली मुद्रा को ही 'मुद्रा' कहना पड़ेगा और इकट्ठी करके रक्खी हुई मुद्रा को 'मुद्रा' नहीं कह सकेंगे। परन्तु यह बात नहीं हैं। इकट्ठी करके रक्खी हुई मुद्रा भी 'मुद्रा' होती है और विनिमय-माध्यम के काम आ सकती है। जिस प्रकार खड़ा हुआ इंजन भी इंजन कहलाता है उसी प्रकार इकट्ठी की हुई मुद्रा को भी मुद्रा कहेंगे चाहे वह उस समय विनिमय-माध्यम का काम न कर रही हो।

(४) भुगतान करने का साधन (Means of deferred Payments)

मुद्रा भुगतान (Payments) चुकाने के काम भी आती है। कुछ ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका भुगतान भविष्य में चुकाया जाता है। ऐसे भुगतान चुकाने के लिए मुद्रा से काम लिया जाता है। मान लो किसी व्यक्ति ने किसी दुकानदार से एक महीने की उधार पर सामान ख़रीदा। इसका भुगतान वह व्यक्ति एक महीने बाद चुकायेगा। परन्तु भुगतान देते समय उस व्यक्ति को मुद्रा चुकानी पड़ेगी। यदि वह व्यक्ति चाहे कि जितना सामान उसने दुकानदार से उधार लिया था उतना ही सामान लौटा कर भुगतान चुका दे तो यह सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि वस्तुओं का मूल्य घट-बढ़ सकता है। इसलिए जितने भी भविष्य में भुगतान के वायदे होते हैं उन सबका भुगतान मुद्रा में ही चुकाया जाता है।

चूंकि मुद्रा भविष्य में चुकाये जाने वाले भुगतान देने के काम आती है इसलिए यह आवश्यक है कि उसका मूल्य स्थाई रहे। यद्यपि मुद्रा का मूल्य सदैव स्थाई और स्थिर नहीं रह सकता परन्तु फिर भी उसके मूल्य में जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव नहीं होने चाहिएँ। यदि मुद्रा के मूल्य में भारी-भारी उतार-

चढ़ाव हुए तो मुद्रा भविष्य में भुगतान चुकाने की इस क्रिया को अच्छी तरह पूरा नहीं कर सकती।

२—गौण तथा आकस्मिक क्रियाएँ (Contingent Functions)

(१) मुद्रा के द्वारा पैदा की हुई सम्पत्ति को उत्पादन के भिन्न-भिन्न साधनों जैसे भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्धक में बांटा जा सकता है। यदि मुद्रा न होती तो पैदा की हुई सम्पत्ति को वस्तुओं के रूप में ही बाँटना पड़ता और तब उसमें अनेक कठिनाइयाँ होतीं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह होती कि सड़ी-गली वस्तुएँ भी बाँटी जाया करतीं जिससे सामाजिक बुराइयाँ पैदा होतीं।

(२) मुद्रा पूंजी को गतिशील बनाती है अर्थात् मुद्रा के द्वारा पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनके पास पूंजीगत वस्तुएँ होती हैं परन्तु वे उनका उपयोग नहीं कर सकते तथा कुछ लोग ऐसे होते हैं जो उन वस्तुओं का उपयोग करना जानते हैं परन्तु उनके पास वे वस्तुएँ नहीं होतीं। मुद्रा के द्वारा इन दोनों प्रकार के लोगों को समीप लाया जा सकता है।

(३) मुद्रा के कारण ही साख-व्यवस्था को जन्म मिला है। यदि मुद्रा न होती तो उधार लेने-देने का काम नहीं हो सकता था। अब मुद्रा के होने से वस्तुएँ उधार लेकर बदले में कभी मुद्रा चुकाई जा सकती है। भविष्य में चुकाये जाने वाले ऋण तथा उधार लेने-देने के वायदे—सब मुद्रा के कारण ही सम्भव हो सके हैं।

(४) मनुष्य अपनी आय को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि उन वस्तुओं से मिलने वाली कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो। यह काम मुद्रा होने से ही सम्भव हो सकता। यदि मुद्रा न होती तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर कितना व्यय करना चाहिए—यह मालूम नहीं हो सकता था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रा के द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं को ख़रीद कर अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

अंगरेज़ी की चार पंक्तियों में मुद्रा की क्रियाओं का एक साथ वर्णन किया जा सकता है :—

"Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store,
But if this does not complete the functions,
We may add transferability more."

(३) मुद्रा की परिभाषा (Definition of

मुद्रा का महत्व और मुद्रा की क्रियाएँ जानने के बाद मुद्रा की परिभाषा निर्धारित करना कोई कठिन बात नहीं होनी चाहिए। परन्तु मुद्रा की परिभाषा

निश्चित करना इतनी सरल बात नहीं है जितना लोग प्रायः समझते हैं। भिन्न-भिन्न मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ लिखी हैं। किसी ने "मुद्रा" का बहुत छोटा अर्थ लगाया है तो किसी ने "मुद्रा" को बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। यहाँ हम उन सभी परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

कुछ लोगों का कहना है कि केवल धातु के सिक्कों (Metallic Money) को ही 'मुद्रा' कहना चाहिए। इन लोगों का विश्वास है कि जिस वस्तु की मुद्रा बनाई जाय उसका अपना कुछ मूल्य होना चाहिए और तभी उस वस्तु से बनी हुई मुद्रा अन्य वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन कर सकती है। चूँकि धातु एक मूल्यवान् वस्तु है इसलिए धातु के सिक्कों को ही 'मुद्रा' समझना चाहिए। इस परिभाषा के अनुसार कागज़ के नोटों को 'मुद्रा' नहीं कह सकते क्योंकि नोट में लगे हुए कागज़ का कोई मूल्य नहीं होता।

यह परिभाषा बहुत छोटी और संकुचित मालूम होती है। इस परिभाषा के अनुसार कागज़ के नोट 'मुद्रा' नहीं हो सकते। परन्तु हम देखते हैं कि कागज़ के नोट वे सब काम करते हैं जो धातु के सिक्के करते हैं। कागज़ के नोट भी विनिमय का माध्यम होते हैं, वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करते हैं, भुगतान चुकाने के भी काम आते हैं तथा मुद्रा की अन्य सभी क्रियाएँ (जो पीछे बतलाई गई हैं) करते हैं। अतः कागज़ के नोटों को 'मुद्रा' की परिभाषा में सम्मिलित न करना उचित नहीं जान पड़ता। इसलिए यह परिभाषा गलत है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'मुद्रा' की परिभाषा में धातु के सिक्कों को, सरकार या किसी बैंक द्वारा चलाये गए नोटों को, बिलों को, चेकों को तथा हुण्डियों को भी शामिल कर लेना चाहिए। इन लोगों का विश्वास है कि बिल (B/E) चेक तथा हुण्डी भी लेने-देने के काम आती हैं और वस्तुओं की ख़रीद-बेच में विनिमय-माध्यम का काम करती हैं इसलिए इनको भी 'मुद्रा' समझना चाहिए।

यह परिभाषा बहुत बड़ी और व्यापक मालूम होती है क्योंकि इसमें चेक, बिल और हुण्डी को भी शामिल कर लिया गया है यद्यपि इनको धातु के सिक्कों की भांति हर एक व्यक्ति लेन-देन में स्वीकार नहीं करता और न ये बाज़ार मे इतनी स्वतन्त्रता से चलते हैं, जितने सिक्के या सरकारी नोट, चेक, बिल या हुण्डी को बाज़ार में केवल वे ही लोग लेते-देते हैं जो आपस में एक दूसरे को भली भांति जानते हों। इसलिए इनका क्षेत्र बहुत सीमित होता है। इनको 'मुद्रा' की परिभाषा में शामिल करना इसलिए भी ठीक नहीं जान पड़ता कि इनको सर्व साधारण जनता बिना एक दूसरे को जाने हुए स्वीकार नहीं कर सकती। अतः यह परिभाषा भी उपयुक्त नहीं जान पड़ती।

ऊपर दिए गए दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर मुद्रा की एक ऐसी परिभाषा बनानी चाहिए जिसमें वे सब वस्तुएँ शामिल की जाएँ जो मुद्रा की सब क्रियाओं को पूरा करती हों। वास्तव में तो मुद्रा एक ऐसा विनिमय का माध्यम

है जिसे कानून के अनुसार भुगतान लेने-देने के काम में लाया जाए। "विनिमय के उन सब माध्यमों को (चाहे वे धातु के सिक्के हों या सरकार या किसी बैंक द्वारा चलाए गए नोट हों) 'मुद्रा' कहना चाहिए जिनको उस देश में रहने वाले या बाहर से आकर बसने वाले लोग भी लेने-देने में बे रोक टोक और बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार करें।"

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त कुछ बड़े मुद्रा-शास्त्रियों के द्वारा दी गई परिभाषाएँ भी दी जाती हैं जिससे विद्यार्थी मुद्रा के भिन्न-भिन्न रूपों से भली भांति परिचित हो सकें। ये परिभाषाएँ निम्न हैं :—

'मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी चीज़ है जो वस्तुओं को ख़रीदने के काम आती है"।—कोल

"किसी भी वस्तु को 'मुद्रा' कहा जा सकता है जो विनिमय का माध्यम हो, जिसको सब लोग बे रोक-टोक स्वीकार करें और जो सामान्यतः ऋण भुगतान करने के काम में लाई जाय।"—इलाई

"'मुद्रा' उस वस्तु को कहते हैं जो विनिमय का माध्यम हो और जो लेन-देन में तथा ऋण भुगतान करने में सामान्यतः काम में लाई जाय परन्तु जिसके चलने और न चलने की कोई ज़िम्मेदारी किसी भी एक व्यक्ति पर न हो।"—किन्ले

"'मुद्रा' उस वस्तु को कहते हैं जो माल के बदले में चुकाई जाय तथा अन्य व्यापारिक लेन-देन के भुगतान करने के काम में लाई जाय।"—रॉबर्टसन

"'मुद्रा' एक ऐसा विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं और सेवाओं के बदले में चुकाने के काम आवे।"

"'मुद्रा' एक ऐसी वस्तु है जो ऋण लेने-देने में सामान्यतः स्वीकार की जाय, जो वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जो मूल्य संचय करने के काम में लाई जाय।"—ज्यॉफ्रे क्राउथर

इन सभी परिभाषाओं से एक बात स्पष्ट होती है कि सभी मुद्रा-शास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा में "विनिमय-माध्यम" पर विशेष ज़ोर दिया है। अतः इन विचारों को रखते हुए एक नई परिभाषा भी बनाई जा सकती है :—

"कि किसी भी देश की 'मुद्रा' उस वस्तु को कहते हैं जो उस देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जो उनके बदले में चुकाने के काम में लाई जावे।"

"'मुद्रा' उन सभी वस्तुओं को कहते हैं जो किसी समय भी तथा देश के किसी भी स्थान पर बिना किसी हिचकिचाहट और विशेष जांच-पड़ताल किए वस्तुओं और सेवाओं को ख़रीदने के काम आवें तथा जो व्यय चुकाने के काम भी लाई जाएँ और जिन्हें सामान्यतः सभी लोग स्वीकार करें।"—मार्शल

(४) करेंसी (Currency)

अँगरेज़ी की पुस्तकों में स्थान-स्थान पर 'करेंसी' (Currency) शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ 'करेंसी' शब्द का अर्थ समझना भी बहुत आवश्यक है। 'करेंसी' शब्द का प्रयोग उन वस्तुओं के लिए किया जाता है जो विनिमय-माध्यम के काम आवें और जिन्हें लेन-देन चुकाने के लिए सामान्यतः सभी लोग स्वीकार करें। ऐसी वस्तुएँ धातु-मुद्रा (सिक्के) तथा पत्र मुद्रा (नोट) हैं। सिक्के और नोट विनिमय-माध्यम का काम करते हैं तथा इन्हें देश में सभी लोग लेन-देन चुकाने के लिए स्वीकार करते हैं। अतः इनको करेंसी (Currency) कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं जो विनिमय-माध्यम का काम तो करती हैं परन्तु जिनको सामान्यतः सभी लोग लेन-देन में काम नहीं लाते। ये वस्तुएँ साख-मुद्रा अर्थात् चेक, बिल, प्रतिज्ञापत्र, हुण्डी आदि हैं। चेक, बिल आदि वस्तुओं के लेन-देन में तो सहायता करते हैं परन्तु इनका क्षेत्र बहुत सीमित होता है। पाठक अध्याय ५ में पढ़ेंगे कि चेक, बिल आदि केवल उन्हीं लोगों के बीच में चलते हैं जो आपस में एक दूसरे से भली भाँति परिचित हों और जिनको एक दूसरे का पूरा-पूरा विश्वास हो। अतः इनको 'साख-मुद्रा' (Credit money) कहते हैं। 'मुद्रा' और 'करेंसी' में यह अन्तर समझ लेना चाहिए कि 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग धातु-मुद्रा (सिक्के) पत्र-मुद्रा (नोट) तथा साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) के लिए होता है तथा 'करेंसी' शब्द का प्रयोग केवल धातु-मुद्रा और पत्र-मुद्रा के लिए होता है। नीचे लिखी तालिका से यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

मुद्रा = धातु-मुद्रा (सिक्के) + पत्र-मुद्रा (नोट) + साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि)।

करेंसी = धातु-मुद्रा (सिक्के) + पत्र-मुद्रा (नोट)

या

मुद्रा – साख-मुद्रा

(५) मुद्रा के दोष (Evils of Money)

संसार में प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं—एक अच्छा और दूसरा बुरा। इसी नियम के अनुसार मुद्रा के लाभ भी हैं और उसके दोष भी। मुद्रा के लाभों का वर्णन मुद्रा के महत्व के साथ किया जा चुका है। यहाँ हम मुद्रा के दोषों पर प्रकाश डालेंगे:—

(१) यह सच है कि मुद्रा होने से उधार लेन-देन में सहायता मिलती है। परन्तु यह इसका बड़ा भारी दोष भी है। उधार के कारण लोग फ़िज़ूल ख़र्च बन

जाते हैं और अपनी आमदनी से अधिक व्यय करने लगते हैं। यदि मुद्रा का लेन-देन न होता तो मनुष्य जितना पैदा करता उतना ही व्यय करता और सम्भवतः वह फिजूल ख़र्च न होता।

(२) मुद्रा के कारण सम्पत्ति के वितरण में असमानता और विषमता आती है। कुछ लोगों के पास बहुत मुद्रा इकट्ठी हो जाती है और कुछ लोग इससे बिलकुल वंचित रह जाते हैं। वर्तमान काल का पूंजीवाद मुद्रा का ही परिणाम है। हम देखते हैं कि कुछ लोग मुद्रा इकट्ठी करके मौज करते हैं और दूसरे लोग मुद्रा न होने के कारण भूखे और नंगे फिरते हैं। यदि मुद्रा न होती तो प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुएँ बनानी या पैदा करनी पड़तीं। वह आज की भांति पूंजीपति बनकर भूखे नंगे का शोषण नहीं कर सकता था।

(३) मुद्रा के कारण मज़दूरी में प्रतियोगिता बढ़ती है जिससे मज़दूरों को हानि रहती है। किसी को कम मिलता है और इतना कम मिलता है कि वह अपने परिवार का तो क्या अपना भी पेट नहीं भर सकता और किसी को इतना अधिक मिलता है कि वह इकट्ठा कर करके पूंजीपति बन बैठता है। हम देखते हैं कि दिन रात काम करने वाले मज़दूर को केवल ३०) रुपया मासिक मिलता है परन्तु केवल एक या दो घंटे काम करने वाले साहबों को हज़ार-हज़ार रुपये मिलते हैं। यदि मुद्रा का लेन-देन न होता तो मज़दूरों को आवश्यकता की वस्तुएँ मिला करतीं और यदि कोई आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ लेता भी तो वह उन्हें इकट्ठा करके आज की भांति पूंजीपति नहीं बन सकता था क्योंकि वस्तुओं का इकट्ठा करना ही मुश्किल होता।

(४) मुद्रा का मूल्य घटने-बढ़ने से समाज को बड़ी हानि होती है। मुद्रा के मूल्य में होने वाले भारी-भारी उतार-चढ़ाव व्यापार तथा उद्योगों को प्रायः नष्ट भी कर डालते हैं। लुडविग वॉन नामक एक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि "चोरी, हत्या, झूठ, बेईमानी और गद्दारी इन सब बुराइयों का मूल कारण मुद्रा है। मुद्रा के कारण ही वेश्या अपना शरीर और सम्मान बेच देती है, न्यायाधीश अपना न्याय बेच देता है और अच्छे-अच्छे धार्मिक प्रवृत्ति के मानव-प्राणी भी पतित बन जाते हैं।"

मुद्रा के लाभ और दोषों पर यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि मुद्रा के लाभ मुद्रा के दोषों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि प्रयत्न किया जाय तो मुद्रा के इन दोषों में से कुछ दोषों को दूर किया जा सकता है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे दोष रह जाएँगे जिनको दूर करना सम्भव नहीं है। इन दोषों से हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। मुद्रा-शास्त्र को भली भांति समझने का प्रयत्न करना चाहिए और मुद्रा नीति को इस प्रकार काम में लाना चाहिए कि वह मानव जाति का कल्याण करे। तभी मुद्रा से होने वाले लाभों का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकेगा।

प्रश्न

१. आधुनिक समाज में मुद्रा का क्या महत्त्व है ? समझा कर लिखिए।

२. 'मुद्रा' की परिभाषा लिखिए तथा मुद्रा की क्रियाओं का विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

३. मुद्रा के दोषों पर प्रकाश डालते हुए समझाइये कि क्या आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा के बिना काम चलाया जा सकता है ?

४. 'मुद्रा' और 'करेंसी' का भेद दर्शाइये।

५. मुद्रा के पक्ष और विपक्ष की युक्तियाँ देते हुए समझाइये कि आधुनिक समाज में मुद्रा की क्या आवश्यकता ?है

६. "मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी चीज़ है जो वस्तुओं को ख़रीदने के काम आती है।"

"मुद्रा एक ऐसा विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं और सेवाओं के बदले में चुकाने के काम आवे।"

मुद्रा की इन दोनों परिभाषाओं की विवेचना कीजिए।

७ मुद्रा के गुणों और दोषों पर प्रकाश डालिए।

अध्याय ३

मुद्रा के भेद

कानूनी मुद्रा; धातु मुद्रा (सिक्के)

मुद्रा प्रायः धातु की या कागज़ की होती हैं। धातु-मुद्रा को 'सिक्के' या (Coin) कहते हैं और कागज़ी-मुद्रा 'नोट' कहलाते हैं। सिक्के व नोट बना कर चलाने का काम सरकार का होता है। परन्तु सरकार किसी बैंक या अन्य किसी संस्था को भी नोट व सिक्के बनाकर चलाने का काम सौंप सकती है। ऐसी अवस्था में उस बैंक को नोट व सिक्के बनाकर चलाने का एकाधिकार (monopoly) मिल जाता है। १८६१ से पहिले हमारे देश में नोट छाप कर चलाने का अधिकार बम्बई, मद्रास तथा बङ्गाल के प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला हुआ था। ये तीनों बैंक अपने-अपने क्षेत्रों में नोट छापकर चलाया करते थे। परन्तु इनके नोट देश भर में नहीं चल सकते थे। आज भी नोट छाप कर चलाने का काम रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया को मिला हुआ है। रिजर्व बैंक ही आज हमारे देश में नोट छाप कर चलाता है। सरकार केवल एक रुपये का नोट छाप कर चलाती है। सिक्के चलाने का काम आज भी भारत-सरकार का ही है परन्तु शनैः २ यह काम रिजर्व बैंक को दिया जा रहा है। सरकार या किसी अधिकारी-बैंक के द्वारा चलाए गए सिक्कों या नोटों को जो कानून के अनुसार लेन-देन और भुगतान चुकाने के काम लाए जाएँ कानूनी-मुद्रा (Legal tender) कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'कानूनी-मुद्रा' उसे कहते हैं जिसे देनदार (Debtor) अपने ऋण के भुगतान में लेनदार (Creditor) को चुकाये और लेनदार को उसे कानून के बल से लेना पड़े। जैसे रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, एकन्नी, अधन्ना तथा पैसों को लेने से कोई भी व्यक्ति मना नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक, दो, पांच, दस और सौ रुपये के नोटों को भी लेने से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इन सिक्कों और नोटों को लेने से इन्कार करे तो उस पर कानून भंग करने का मुक़दमा चलाया जा सकता है। इसलिए देश में चलने वाले ये सिक्के और नोट कानूनी-मुद्रा हैं। चेक, बिल या हुण्डी को लेने के लिए किसी भी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता। इसलिए इन्हें कानूनी-मुद्रा नहीं कह सकते। इसी प्रकार कुछ ऐसे सिक्के या नोट भी होते हैं जिन्हें अन्य लोग बेईमानी और जालसाज़ी से बनाकर चलाने लगते हैं। ऐसे नोटों और सिक्कों को लेने के लिए किसी को भी बाध्य नहीं किया जा सकता क्योंकि ये कानून के अनुसार नहीं बनाये जाते। इसलिए इन्हें कानूनी-मुद्रा नहीं कह सकते। ये गैर कानूनी-मुद्रा

(Illegal Money) कहलाते हैं। कभी-कभी सरकार अपने द्वारा ही चलाए गए नोटों या सिक्कों को चलने से बन्द कर देती है, जैसे युद्ध काल में विक्टोरिया छाप रुपयों को सरकार ने चलने से बन्द कर दिया था। इसी प्रकार १९४६ में ५००, १०००, तथा १०, ००० रुपये के नोटों को भी चलने से बन्द कर दिया था। अब विक्टोरिया छाप रुपये या ५००, १००० और १०,००० रुपये के नोट कानूनी-मुद्रा नहीं कहे जा सकते क्योंकि कानून के द्वारा इनका चलना सरकार ने बन्द कर दिया है। अतः इन्हें अब गैर कानूनी-मुद्रा (Illegal Money) कह सकते हैं।

कानूनी-मुद्रा के दो भेद किए जा सकते हैं :

(१) सीमित कानूनी-मुद्रा (Limited Legal tender)
(२) असीमित कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal tender)

(१) सीमित कानूनी-मुद्रा उसे कहते हैं जो केवल सीमित मात्रा में ही लेने-देने के लिए कानूनी-मुद्रा हो अर्थात् जिसे केवल सीमित-मात्रा में ही लेने के लिए लोगों को बाध्य किया जा सके। देश में चलने वाले सहायक सिक्के प्रायः सीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं। हमारे देश में चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसे के सिक्के सीमित कानूनी-मुद्रा हैं। इनको केवल दस रुपये तक के लेन-देन और भुगतान लेने के लिए ही किसी को बाध्य किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को १००) का ऋण चुकाना है और वह १००) रुपये का इन छोटे सिक्कों में भुगतान चुकाना चाहता है तो इसके लिए कानूनन वह देनदार को बाध्य नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह १०) रुपये के छोटे सिक्के देकर भुगतान चुका सकता है और शेष ९०) रुपये के लिए उसे रुपये के सिक्के या नोट चुकाने पड़ेंगे। (परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। यदि देनदार और लेनदार दोनों चाहें तो किसी भी मात्रा में छोटे सिक्कों द्वारा भुगतान चुकाया जा सकता है। पर इसके अर्थ यह नहीं कि सब सिक्के बराबर हैं। कानून की दृष्टि में रुपये और नोट सीमित कानूनी-मुद्रा नहीं हैं परन्तु छोटे सिक्के सीमित कानूनी-मुद्रा हैं।

(२) असीमित कानूनी-मुद्रा उसे कहते हैं जो किसी भी मात्रा में लेने-देने के लिए कानूनी मुद्रा हो अर्थात् जिसे किसी भी संख्या में लेने के लिए लोगों को बाध्य किया जा सके। देश में चलने वाले रुपये के सिक्के, अठन्नियाँ तथा कागज़ के नोट असीमित कानूनी-मुद्रा हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी भी संख्या का ऋण चुकाना चाहे तो रुपये के सिक्के या नोट देकर चुका सकता है। उसके लेनदार (Creditor) को उसी संख्या में रुपये के सिक्के या नोट गिनकर लेने के लिए कानून के द्वारा बाध्य किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रत्येक देश में सीमित और असीमित कानूनी-मुद्रा होती हैं। इङ्गलैण्ड में पौण्ड असीमित कानूनी-मुद्रा है तथा शिलिङ्ग सीमित कानूनी-मुद्रा है। शिलिंग केवल २ पौण्ड तक के भुगतान चुकाने के लिए असीमित कानूनी-मुद्रा है

परन्तु पौण्ड को कितनी ही मात्रा के भुगतान चुकाने के काम में लाया जा सकता है।

(२) धातु-मुद्रा (सिक्के) तथा टंकण (सिक्का-ढलाई)

(Coins and Coinage)

धातु मुद्रा या सिक्के, जैसा कि इनके नाम से ही मालूम होता है धातु के बने हुए होते हैं। सिक्के सोना, चांदी, तांबा, निकिल आदि धातुओं के बनाए जाते हैं। सिक्के सरकारी टकसालों में बनते हैं। सरकार उन सिक्कों के एक तरफ सरकारी-छाप लगा देती है और उस सिक्के का नाम और मूल्य उसकी पीठ पर छाप दिया जाता है जिससे सब लोग उसे आसानी से पहिचान सकें। सिक्के धातु के प्रायः छोटे छोटे टुकड़े होते हैं जिससे उनको लाने-लेजाने में तथा रखने में कोई कठिनाई न हो। एक ही मूल्य के सिक्के एक सी तोल और एक ही रूप-रंग के होते हैं जिससे उनको पहिचानने में सुविधा रहे। हमारे देश में आजकल सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते वरन् चांदी, निकिल तथा तांबे के सिक्के बनाए जाते हैं। ख़ालिस (Pure) चांदी के सिक्के भी भारत में नहीं बनते। चांदी के रुपये में कुछ खराब धातु मिला दी जाती है। चांदी के रुपये में पहिले $\frac{११}{१२}$ भाग चांदी का होता था परन्तु अब लगभग आधे से भी कम भाग चांदी का होता है। देखने में हमारा रुपया रांग का-सा मालूम होता है। रुपये के अतिरिक्त अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना व पैसे के सिक्के भी चलाये जाते हैं।

सिक्का बनाने की क्रिया को सिक्का-ढलाई या टङ्कण (Coinage) कहते हैं। आज से बहुत पहिले न आज जैसे सिक्के थे और न आज जैसी सिक्का-ढलाई की कला थी। उस समय सोने-चांदी के लम्बे-लम्बे टुकड़े होते थे जिन पर उनकी तोल खुदी होती थी। व्यापारी लोग धातु के उन टुकड़ों पर अपना-अपना नाम भी छाप दिया करते थे। इस प्रकार जो लोग इन व्यापारियों को जानते थे वे उन धातु के टुकड़ों को उन पर छपे हुए मूल्य के अनुसार ले लिया करते थे और जो लोग इन व्यापारियों को नहीं जानते थे वे उन टुकड़ों को पहिले तोल लेते थे और फिर लिया करते थे। धातु के कुछ ऐसे टुकड़े भी होते थे जिन पर कोई विशेष प्रकार का चिह्न खोद दिया जाता था। किसी पर बैल का चिह्न बना दिया जाता था, किसी पर चाकू या तलवार की शकल खोद दी जाती थी और किसी पर तराज़ू बना दी जाती थी। परन्तु इसका भी कोई विशेष नियम न था। धीरे-धीरे धातु के इन टुकड़ों के लाने-लेजाने में कठिनाई अनुभव होने लगी। अब धातु के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर उन पर उनकी तोल और मूल्य लिखे जाने लगे। सबसे पहिले ग्रीस में ऐसे सिक्के बनाए गए थे। धीरे-धीरे अन्य देशों में भी ऐसे छोटे-छोटे सिक्के बनाए जाने लगे। सिक्के भिन्न-भिन्न धातुओं के बनाए जाते थे। लगभग सब प्रकार के धातु जैसे

सोना, चांदी, तांबा, लोहा, रांगा, टीन आदि सिक्के बनाने के काम आ चुके हैं। आज सोने के सिक्के नहीं बनते परन्तु अन्य धातुओं के सिक्के तो आज भी पाये जाते हैं। सिक्कों का रूप और आकार भी समय-समय पर बदलता रहा है। कभी लम्बे सिक्के थे तो कभी गोल थे, कभी वर्गाकार थे तो कभी बिलकुल टेढ़े-मेढ़े सिक्के चलते थे। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और उनके आकार में कठिनाई अनुभव होती गई सिक्कों का रूप और आकार भी बदलता गया और अन्त में गोल या चौकोर सिक्के बनने लगे।

पहिले पहिल सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का नहीं था। भिन्न-भिन्न व्यापारी अपने-अपने नाम की छाप लगाकर सिक्के चलाते थे। परन्तु इस प्रकार उनकी तोल में तथा उनके रूप और आकार में बड़ा अन्तर रहता था। हर एक व्यापारी नए-नए प्रकार के सिक्के बनाता था जिससे जनता को उन्हें पहिचानने में बड़ी कठिनाई होती थी। अतः अन्त में सरकार ने इस काम को अपने हाथ में ले लिया। अब देश की केन्द्रीय सरकार देश भर के लिए समान रूप-रंग तथा समान आकार और तोल के भिन्न भिन्न मूल्य के सिक्के बनाने लगी। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि किसी देश की सिक्का-प्रणाली को आदर्श प्रणाली बनाने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है।

(३) आदर्श सिक्का-प्रणाली के लक्षण

सिक्का-प्रणाली को आदर्श बनाने के लिए सिक्कों में निम्न गुण होने चाहिएँ:—

(१) सिक्कों में समता होनी चाहिए अर्थात् एक ही मूल्य के सब सिक्के तोल और आकार में बिलकुल एक से होने चाहिएँ। चांदी के सिक्कों में प्रायः कुछ अन्य प्रकार की खराब धातु मिलाई जाती है जिससे चांदी का सिक्का टिकाऊ बन सके। ऐसी अवस्था में इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि चांदी के सब सिक्कों में एक-सी ही अन्य धातु मिलाई जाय। यदि किसी में कम और किसी में अधिक या किसी में अच्छी और किसी में बुरी धातु मिलाई गई तो सिक्के एक से नहीं बन सकेंगे।

(२) एक ही मूल्य के सब सिक्के तोल में बिलकुल सही (Accurate) होने चाहिएँ। यदि कोई सिक्का भारी हुआ और कोई सिक्का हलका हुआ तो भारी सिक्के को लोग गलाने लगेंगे और केवल हलका सिक्का ही बाज़ार में रह जायगा। इससे देश में सिक्कों की कमी हो जायगी। अतः एक मूल्य के सब सिक्के तोल में बिलकुल सही होने चाहिएँ।

(३) देश में चलने वाले सब सिक्कों की बनावट, आकृति और तोल ऐसी होनी चाहिए जिससे उनके रखने और लेजाने लाने में सुविधा रहे। सिक्कों की बनावट ऐसी होनी चाहिए जिससे बेईमान लोग उनमें से धातु न चुरा सकें। प्रायः गोल सिक्के ही चलाए जाने चाहिएँ जिससे वे जल्दी खराब न हो सकें।

(४) सिक्के ऐसे होने चाहिएँ कि जिनकी नक़ल करके दूसरे सिक्के बनाना लोगों को सम्भव न हो सके। परन्तु यह बात आजकल सम्भव नहीं हो सकती। आजकल तो लोग कैसे भी सिक्के की नक़ल करके जाली-सिक्का बना सकते हैं।

(५) सिक्के टिकाऊ (Durable) होने चाहिएँ जिससे उनको प्रयोग करने में उनकी धातु में कोई कमी न आने पावे। सिक्के मज़बूत होने चाहिएँ तथा ऐसे होने चाहिएँ कि चलते-चलते उनके रूप-रंग और आकार में शीघ्र ही कोई विशेष ख़राबी न आए।

(६) सिक्के ऐसे होने चाहिएँ कि जिनको लोग सरलता से पहिचान सकें और अच्छे-बुरे का भेद कर सकें। इसके लिए आजकल सिक्के बनाने में रूप-रंग, आकार, बनावट तथा आवाज़ पर विशेष ध्यान दिया जाता है। सिक्का-प्रणाली में इन सब गुणों को प्राप्त करने के लिए आजकल सब देशों में सिक्का बनाने का काम सरकार ने अपने हाथ में ले रक्खा है।

(४) टंकण या सिक्का-ढलाई के भेद

वैसे तो सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का ही होता है और सरकारी-टकसालों में ही सिक्के बनाए जाते हैं परन्तु कभी-कभी सरकार जनता को भी धातु के बदले में सरकारी टकसाल पर सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता दे देती है। इस दृष्टि-कोण से टंकण या सिक्का-ढलाई तीन प्रकार की होती है :—

(१) स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage)

(२) सरकारी टंकण (परिमित टंकण) (Limited Coinage)

(३) निःशुल्क टंकण (Gratuitous Coinage)

(१) स्वतन्त्र टंकण—जब जनता को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके सिक्के बनवा सके तो उसे स्वतन्त्र-टंकण प्रणाली कहते हैं। स्वतन्त्र टंकण प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्र अधिकार मिला होता है कि वह सोना, चाँदी या अन्य कोई धातु ले जाकर सरकारी टकसाल से उसके बदले में सिक्के बनवा ले। सरकार इस प्रकार सिक्के बनाने के बदले में जनता से चाहे तो शुल्क ले सकती है और चाहे निःशुल्क ही सिक्के बनाकर दे सकती है। शुल्क लेने या न लेने का स्वतन्त्र-टंकण से कोई सरोकार नहीं है। स्वतन्त्र टंकण का तो केवल यही अभिप्राय है कि जनता को धातु के बदले में सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

जब सरकार स्वतंत्र-टङ्कण प्रणाली के अन्तर्गत धातु के बदले में सिक्के बनाने के लिए जनता से कोई शुल्क (फीस) वसूल करे और वह शुल्क सिक्के बनाने के वास्तविक लागत-व्यय के बराबर हो तो उस शुल्क को टंकण-व्यय या टकसाली-खर्च (Brassage) कहते हैं।

कभी-कभी सरकार स्वतंत्र-टंकण प्रणाली के अन्तर्गत धातु के बदले में सिक्के बनाने के लिए जनता से 'सिक्के बनाने के वास्तविक लागत-व्यय' से अधिक फीस वसूल करती है। अर्थात् सिक्के बनाने पर सरकार जनता से कुछ लाभ लेती है। इस लाभ को टंकण-लाभ या टकसाली-लाभ (Seigniorage) कहते हैं।

उदाहरण: मान लो चांदी का एक रुपया बनाने में सरकार के दो आने व्यय होते हैं। यदि सरकार जनता से दो आने ही वसूल करे तो इस फीस को टकसाली व्यय या (Brassage) कहेंगे। यदि सरकार दो आने व्यय करे परन्तु जनता से तीन आने वसूल करे तो एक आने को टकसाली-लाभ या (Seigniorage) कहेंगे।

हमारे देश में १८९३ से पहिले चांदी के रुपये का स्वतंत्र-टङ्कण था अर्थात् उस समय प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह जब चाहे तभी चांदी ले जाकर सरकारी टकसाल से उसके बदले में रुपये बनवा ले। १८९३ में हार्शेल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार रुपये का स्वतंत्र-टङ्कण तोड़ दिया गया।

(२) सरकारी टंकण—जब देश में सिक्के बनाकर चलाने का काम सरकार का हो और सरकार ही अपने हिसाब पर सिक्के बनाकर चलाए तो इस व्यवस्था को सरकारी या परिमित-टङ्कण प्रणाली कहते हैं। सरकारी-टङ्कण प्रणाली के अन्तर्गत सिक्के बनाने का अधिकार सरकार को ही होता है। जनता को धातु के बदले में सिक्के बनवाने की स्वतंत्रता नहीं होती। चूंकि सिक्के बनाने का काम सरकार तक ही परिमित रहता है इसलिए इसे 'परिमित टङ्कण' भी कहते हैं।

१८९३ से हमारे देश में रुपये की सरकारी-टङ्कण-प्रणाली चल रही है। आज भी सिक्के बनाकर चलाने का एकाधिकार सरकार का ही है। जनता को धातु के बदले में सिक्के बनवाने का अधिकार नहीं है। अतः भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली 'सरकारी-टङ्कण-प्रणाली' पर आधारित है।

(३) निःशुल्क टङ्कण—जब जनता को इस बात की स्वतंत्रता हो कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके बदले में सिक्के बनवा सके और सरकार इस प्रकार सिक्के बनाने के बदले में जनता से कोई भी शुल्क या फीस वसूल न करे तो इस व्यवस्था को निःशुल्क-टङ्कण प्रणाली कहते। हैं

(५) स्वतंत्र-टंकण एवं निःशुल्क-टङ्कण

विद्यार्थी प्रायः स्वतंत्र-टङ्कण और निःशुल्क-टङ्कण को समझने में भूल किया करते हैं। उन्हें इन दोनों टङ्कण-प्रणालियों का भेद भलीभांति समझ लेना चाहिए। स्वतंत्र-टङ्कण प्रणाली वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत जनता को धातु के बदले में सिक्के बनवाने की स्वतन्त्रता मिली होती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार (यदि चाहे तो) जनता से सिक्के बनाने के बदले में कुछ फीस वसूल कर सकती है। जब सरकार जनता से सिक्के बनाने के बदले में कोई फीस वसूल न करे तो उसे निःशुल्क टङ्कण कहते हैं। एक प्रकार से निःशुल्कटङ्कण स्वतंत्र-टङ्कण का ही एक रूप है। बिना फीस के स्वतंत्र-टंकण को निःशुल्क-टंकण कहते हैं।

स्वतंत्र-टङ्कण = सरकार को फ़ीस देकर धातु के बदले में सिक्के बनवाने की जनता को स्वतंत्रता।

निःशुल्क-टङ्कण = बिना फीस दिए जनता को सिक्के बनवाने की स्वतंत्रता।

टङ्कण (Coinage)

- स्वतंत्रटङ्कण (Free)
  - शुल्क सहित
    - टकसाली व्यय (Brassage)
    - टकसाली लाभ (Seigniorage)
  - निःशुल्क (Gratuitous)
- सरकारी टङ्कण Limited
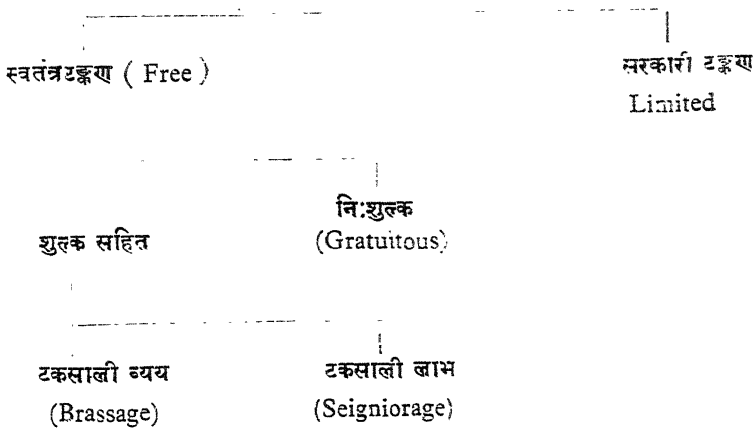
(६) धातु-मुद्रा या सिक्कों के भेद (Forms of Metallic Money)

धातु-मुद्रा या सिक्के दो प्रकार के होते हैं:—

(१) प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का (Standard Coin)

(२) सांकेतिक या सहायक सिक्का (Token Coin)

(१) प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का देश का वह सिक्का होता है जो देश-भर में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जिसके साथ अन्य दूसरी मुद्राओं का मूल्य-सम्बन्ध हो। प्रामाणिक सिक्के में नीचे लिखी हुई तीन बातें होनी चाहिएँ:—

(१) कि उस सिक्के का अंकित-मूल्य (Face Value) उसके वास्तविक या धातु-मूल्य (Metallic Value) के बराबर हो। अर्थात् जितना मूल्य उस सिक्के पर लिखा हो उतने ही मूल्य की उसमें धातु हो।

(२) कि देश में उस सिक्के का स्वतंत्र-टङ्कण हो। अर्थात् जनता को इस बात की स्वतंत्रता हो कि वह सरकारी-टकसाल पर धातु ले जाकर उसके बदले में वह सिक्का बनवा सके।

(३) कि वह सिक्का असीमित कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) हो। अर्थात् लेन-देन और भुगतान चुकाने में उसे असीमित मात्रा में लिया-दिया जाय।

जिस सिक्के में ये तीन बातें होंगी उसे देश का प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का समझना चाहिए। हमारे देश में रुपया प्रमुख-सिक्का माना जाता है क्योंकि उसी के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन होता है तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य भी उसी के साथ सम्बन्धित है। परन्तु हमारे रुपये में इन तीनों बातों में से केवल एक बात पाई जाती है कि यह एक असीमित कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) है जिसे लेन देन में असीमित मात्रा में भुगतान किया जा सकता है। लेकिन इस रुपये का न स्वतंत्र टंकण है और न इसका अंकित-मूल्य इसके धातु-मूल्य के बराबर ही है। इस पर एक रुपया लिखा रहता है परन्तु इसकी धातु लगभग तीन आने की ही होती है। अतः इन तीनों गुणों के अनुसार चांदी के रुपये को प्रामाणिक या प्रमुख सिक्का नहीं कह सकते। परन्तु क्योंकि यह सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है इसलिए इसे देश का प्रधान सिक्का कह सकते हैं।

(२) सांकेतिक या सहायक सिक्के उन सिक्कों को कहते हैं जो प्रामाणिक या प्रमुख-सिक्के से कम राशि के होते हैं और जो छोटी-छोटी राशि के लेन-देन के काम में आते हैं। ये सिक्के प्रमुख-सिक्के के सहायक-सिक्के कहलाते हैं। जिन सिक्कों में नीचे लिखी हुई तीन बातें हों उन्हें सांकेतिक-सिक्के (Token Coins) कहते हैं:—

(१) कि जिनका अङ्कित मूल्य (Face Value) उनके वास्तविक या धातु-मूल्य (Metallic Value) से अधिक हो। अर्थात् जितना मूल्य उन सिक्कों पर लिखा हो उससे कम मूल्य की उनकी धातु हो।

(२) कि देश में उन सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण (Free Coinage) न हो। अर्थात् सरकार ही उन सिक्कों को अपने हिसाब पर बना कर चलाया करे। जनता को इस बात की स्वतन्त्रता न हो कि वह सरकारी टकसाल पर धातु ले जाकर उसके बदले में वे सिक्के बनवा सके।

(३) कि वे सिक्के सीमित कानूनी-मुद्रा (Limited Legal Tender) हों अर्थात् लेन-देन में उन्हें सीमित मात्रा में ही स्वीकार करने के लिए लोगों को बाध्य किया जाय।

जिन सिक्कों में ये तीन बातें हों उन्हें 'सांकेतिक-सिक्के' (Token Coins) समझना चाहिए। हमारे देश के रुपये के सिक्के में इनमें से दो बातें पाई जाती हैं—एक तो यह कि इसका अङ्कित-मूल्य (Face Value) इसके धातु-मूल्य से अधिक है अर्थात् रुपये के मुँह पर 'एक रुपया' खुदा रहता है परन्तु उसमें लगी हुई धातु लगभग तीन आने के बराबर होती है। दूसरी बात यह कि रुपये के सिक्के का स्वतंत्र-टङ्कण (Free Coinage) भी नहीं है अर्थात् जनता को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वह सरकारी टकसाल पर चाँदी ले जाकर बदले में उसका रुपया बनवा सके। इन दोनों बातों के होते हुए भी रुपये को देश का सांकेतिक या सहायक-सिक्का (Token Coin) नहीं कह सकते क्योंकि सांकेतिक-सिक्कों की तीसरी बात 'कि वह सीमित कानूनी-मुद्रा होते हैं' रुपये के सिक्के में नहीं पाई जाती। दूसरे, रुपये का सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है इसलिए भी उसे सांकेतिक-मुद्रा नहीं कह सकते। हाँ, अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसे के सिक्के सांकेतिक या सहायक-सिक्के हैं। इन सिक्कों में सांकेतिक-सिक्कों के तीनों गुण पाए जाते हैं अर्थात् इनका अङ्कित-मूल्य इनके वास्तविक-मूल्य से अधिक होता है, इन सिक्कों का देश में स्वतन्त्र-टङ्कण नहीं है तथा ये सिक्के सीमित कानूनी-मुद्रा भी होते हैं। इन छोटे सिक्कों को केवल १० रुपये तक के भुगतान लेने में स्वीकार करने के लिए ही किसी को कानून से बाध्य किया जा सकता है। ये छोटे सिक्के रुपये के सहायक-सिक्के हैं क्योंकि ये एक रुपये से कम राशि के लेन-देन और भुगतान चुकाने के काम में आते हैं। अतः एक रुपये के सिक्के को छोड़ इन सब सिक्कों को सांकेतिक सिक्के (Token Coin) कहते हैं।

(७) रुपये का सिक्का क्या है? प्रामाणिक-मुद्रा या सांकेतिक-मुद्रा?

पहिले बताया जा चुका है कि हमारे रुपये के सिक्के में न तो सब गुण प्रामाणिक-सिक्के (Standard Coin) के पाये जाते हैं और न सभी गुण सांकेतिक-सिक्के (Token Coin) के ही पाए जाते हैं। तो ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित करना कि रुपये का सिक्का 'प्रामाणिक-सिक्का' है या 'सांकेतिक-सिक्का' है, बड़ा कठिन है। प्रामाणिक-सिक्के के गुणों में से केवल एक गुण रुपये के सिक्के में पाया जाता है और वह यह कि यह सिक्का असीमित कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) होता है। परन्तु रुपये का सिक्का देश में सब वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है और इसी के मूल्य पर अन्य सब सिक्कों के मूल्य निर्भर होते हैं इसलिए यह सिक्का देश का मुख्य-सिक्का होता है। इन्हीं कारणों से रुपये के सिक्के को प्रामाणिक-सिक्का कह सकते हैं। परन्तु इसमें सांकेतिक-मुद्रा (Token Coin) के भी कुछ गुण पाये जाते हैं जैसे इसका अङ्कित-मूल्य इसके धातु-मूल्य से अधिक होता है और दूसरा यह कि देश में इसका स्वतन्त्र-टङ्कण नहीं होता। इन दो कारणों से रुपये के सिक्के को सांकेतिक-मुद्रा कहना भी अनुचित न होगा। अतः इस विवाद को दूर

करने के लिए कि रुपये के सिक्के को प्रामाणिक-सिक्का कहें या सांकेतिक-सिक्का कहें यह उचित होगा कि इसको प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का (Standard Token Coin) कहा जाये।

यह बात आवश्यक नहीं है कि किसी देश की प्रामाणिक या प्रमुख-मुद्रा (Standard Money) सोने की हो या चांदी की ही हो। किसी देश में सोने का प्रामाणिक-सिक्का हो सकता है और किसी देश का प्रामाणिक-सिक्का चांदी का हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी देश में सोने और चांदी दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक-सिक्के हों। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि वह देश द्विधातुवाद (Bimetallism) को मानने वाला हो। आज इङ्गलैंड, अमेरिका तथा बहुत से दूसरे देशों में न सोने के सिक्के हैं और न चांदी के ही सिक्के हैं वरन् कागज़ के नोट चलते हैं। इन नोटों के बदले में सोना नहीं दिया जाता। अतः आज ये देश एक प्रकार से पत्र मुद्रा-प्रमाप (Paper Currency Standard) को मानते हैं। इङ्गलैण्ड की प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money) कागज़ का स्टर्लिङ्ग है। इसलिए कहते हैं कि इङ्गलैंड में स्टर्लिङ्ग-मुद्रा-प्रमाप (Sterling Standard) है अर्थात् इंगलैण्ड की प्रामाणिक-मुद्रा (Standard Money) स्टर्लिङ्ग है, जो कागज़ का बना हुआ है। स्टर्लिङ्ग इगलैण्ड की प्रमुख-मुद्रा मानी जाती है और इसी के मूल्य से वस्तुओं, सेवाओं या अन्य सिक्कों का मूल्य मापा जाता है।

पिछले पृष्ठों में बताया गया है कि कुछ सिक्के ऐसे होते हैं जिनका अंकित-मूल्य (Face Value) उनके धातु-मूल्य (Metallic Value) के बराबर होता है। अर्थात् जितना मूल्य उनके ऊपर छपा रहता है उतना ही मूल्य उनकी धातु का होता है। ऐसे सिक्कों को 'वास्तविक-सिक्के' (Natural Coins) भी कहते हैं।

जब किसी सिक्के में उसके अंकित-मूल्य से कम मूल्य की धातु हो तो अंकित-मूल्य और धातु-मूल्य के इस अन्तर को विकार (Debasement) कहते हैं। यदि किसी सिक्के में से अच्छी धातु निकाल कर उसके स्थान पर ख़राब धातु मिला दी जाए तो कहते हैं कि उस सिक्के को विकृत (Debase) किया जा रहा है।

(८) भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली

हमारे देश की वर्तमान सिक्का-प्रणाली में रुपये का प्रमुख स्थान है। रुपया ही देश का प्रामाणिक या प्रमुख-सिक्का (Standard Coin) माना जाता है। रुपया ही देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मापता है और इसी के मूल्य के साथ अन्य सहायक-सिक्कों के मूल्य सम्बन्धित हैं। सहायक-सिक्कों में हमारे देश में अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना तथा पैसे के सिक्के चलते हैं। ये सिक्के छोटी-छोटी राशि के लेन-देन के काम आते हैं। इन सिक्कों को 'सांकेतिक-सिक्के' कहते हैं।

रुपये का अंकित-मूल्य उसके धातु-मूल्य से अधिक है। युद्ध से पहिले रुपये में ११/१२ भाग शुद्ध चांदी का होता था परन्तु युद्ध-काल में इसमें से चांदी की मात्रा

कम कर दी गई। अब इसमें ½ से भी कम भाग चांदी का होता है। सहायक-सिक्के चांदी या गिलट या दोनों से मिला कर बनाए जाते हैं। दो पैसे का सिक्का युद्ध से पहिले नहीं चलता था परन्तु युद्ध में पैसे की कमी को दूर करने के लिए दो पैसे का सिक्का चलाया गया।

रुपये या सहायक-सिक्कों में से किसी के लिए भी 'स्वतन्त्र-टङ्कण' नहीं है। सिक्के बनाने का काम सरकार या रिज़र्व बैंक का है और सरकारी-टकसालों में सिक्के बनाए जाते हैं। १८९३ से पहिले रुपये का स्वतन्त्र-टङ्कण (Free Coinage) था परन्तु १८९३ से रुपये का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया गया। अब हमारे देश में सरकारी या परिमित टङ्कण-प्रणाली (Limited Coinage System) है।

सिक्कों का आकार गोल या वर्गाकार होता है। सिक्कों के एक तरफ उनका नाम, वर्ष और मूल्य लिखा रहता है तथा दूसरी ओर भारत सरकार का चिन्ह या रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया का चिह्न बना रहता है। रुपया असीमित कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) है तथा अन्य सहायक-सिक्के सीमित कानूनी-मुद्रा (Limited Legal Tender) हैं। सहायक-सिक्कों को केवल १० रुपये तक के भुगतान स्वीकार करने में किसी को कानून से बाध्य किया जा सकता है। देश में सिक्के चलाने का प्रबन्ध आदि रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया करता है और उसी के पास इनका हिसाब रहता है।

प्रश्न

१. मुद्रा के भेद समझाइये। आदर्श सिक्का-प्रणाली में क्या गुण होने चाहिएँ? समझा कर लिखिए।

२ टङ्कण या सिक्का-ढलाई किसे कहते हैं? स्वतन्त्र और निःशुल्क टङ्कण का भेद दर्शाइये।

३. सिक्के कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण लिखिए।

४. प्रामाणिक-सिक्का और सांकेतिक-सिक्का में क्या भेद है? क्या सांकेतिक-सिक्का भी कानूनी-मुद्रा होता है? भारत का रुपया कैसा सिक्का है?

५. भारत की वर्तमान सिक्का-प्रणाली पर एक निबन्ध लिखिए।

६. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :—

(१) सीमित कानूनी-मुद्रा।
(२) सरकारी टङ्कण।
(३) टकसाली लाभ।
(४) प्रामाणिक सिक्का।
(५) टकसाली ख़र्च

७. भारत का रुपया "प्रामाणिक-सांकेतिक-सिक्का" है। इस कथन की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अध्याय ४

मुद्रा के भेद (क्रमशः)

पत्र-मुद्रा (नोट)

धातु-मुद्रा (सिक्कों) के पश्चात् पत्र-मुद्रा (नोटों) का नम्बर आता है। धातु मुद्रा (सिक्कों) के सिद्धांत पिछले अध्याय में बताए जा चुके हैं। यहाँ पत्र-मुद्रा (नोटों) के सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे। विनिमय-माध्यम के रूप में नोटों का लेन-देन कोई नई बात नहीं है। बहुत प्राचीन समय से नोटों का लेन-देन चलता आया है। चीन में तो कागज़ के नोट नवीं शताब्दी में भी चलते थे। इसके पश्चात् जापान और फारिस में भी इनका प्रयोग होने लगा था। धीरे-धीरे एशिया के अधिकांश देशों में इनका प्रचार बढ़ गया। एशिया के बाद फिर योरुप के देशों में भी कागज़ के नोट चलने लगे। परन्तु उस समय के नोटों का रूप आज जैसा नहीं था। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप-रंग के नोट चला करते थे। प्रथम महा-युद्ध काल में तो नोटों का प्रचार बहुत बढ़ गया था। उस युद्ध काल में इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) टूट गया था और भारी-भारी संख्या में कागज़ के नोट छापकर चला दिए गए थे। भारत ने भी उस समय स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard) को छोड़ कर अप-रिवर्तनीय नोट छापकर चलाए थे। इससे नोटों की जानकारी बढ़ गई और लोग अच्छी तरह से इनको समझने लगे। यद्यपि युद्ध समाप्त होने के बाद कुछ देशों ने स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) फिर अपना लिया परन्तु उन्होंने पहिले की भांति अब सोने के सिक्के नहीं चलाए। वे कागज़ के नोटों से ही अपना काम चलाते रहे। इससे नोटों का महत्त्व और अधिक बढ़ गया। १९३१ के पश्चात् स्वर्ण-प्रमाप फिर टूट गया और अब संसार के आधे से अधिक देशों ने पत्र-मुद्रा को ही अपनी-अपनी प्रमुख-मुद्रा मान लिया। वे देश अब पत्र मुद्रा-प्रमाप (Paper Currency Standard) को ही मानने लगे। इसके बाद द्वितीय महायुद्ध काल में तो संसार-भर में कागज़ के नोट काम आए। हमारे देश में भी अरबों की संख्या में कागज़ के नोट छाप कर चलाए गए। अब जनता इनसे भली-भांति परिचित है। इससे ज्ञात होता है कि नोटों का प्रयोग कितनी जल्दी-जल्दी बढ़ता गया और आज इनका कितना अधिक महत्त्व है। नोटों का प्रयोग बढ़ने का कारण यह है कि इनके चलने से सोने-चांदी की बचत होती है; नोटों को आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है तथा बड़ी-बड़ी रकम के भुगतान लेने-देने में भी सुविधा होती है।

(१) पत्र-मुद्रा (नोटों) के भेद

पत्र-मुद्रा या नोट तीन प्रकार के होते हैं :—

१. प्रतिनिधि रूप नोट (Representative Paper Money)

ये नोट समान मूल्य के सोने-चाँदी के बदले में चलाए जाते हैं अर्थात् जितने मूल्य का सोना, चाँदी कोष में रक्खा जाता है ठीक उतने ही मूल्य के नोट चला दिए जाते हैं। सरकार को या नोट छापकर चलाने वाले बैंक को अपने कोष में प्रायः सोना-चाँदी रखना पड़ता है और जितने मूल्य का सोना-चाँदी कोष में होता है, ठीक उतने ही नोट छाप दिए जाते हैं। कोष में धातु या धातु के सिक्के रक्खे जा सकते हैं। धातु या धातु के सिक्के रखने का उद्देश्य यह होता है कि आवश्यकता पड़ने पर यदि किसी समय कोई व्यक्ति नोट के बदले में सोना-चाँदी या सिक्के लेना चाहे तो उसे धातु या सिक्के दिए जा सकें। इस प्रकार ये नोट कोष में रक्खे हुए सोने-चाँदी के प्रतिनिधि मात्र होते हैं। इनका अपना मूल्य कुछ नहीं होता वरन् ये कोष में रक्खे हुए सोने-चाँदी के बल पर चलते हैं। १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने भारत में जब स्वर्ण-धातु-प्रमाप (Gold Bullion Standard) स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी तो यह भी सुझाव दिया था कि कोष में सोना रखकर उस सोने के समान मूल्य के सोने के सर्टीफ़िकेट चला दिए जाएँ। ये सोने के सर्टीफ़िकेट 'प्रतिनिधि रूप कागज़ के नोटों' के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते हैं। (देखिए अध्याय ५ लेखक की 'भारतीय मुद्रा का इतिहास' नामक पुस्तक) प्रतिनिधि रूप पत्र-मुद्रा चलाने का लाभ यह है कि इसमें सोना या चाँदी कोष में रक्खा रहता है परन्तु इनके सिक्के नहीं चलाए जाते जिससे धातु नष्ट न हो और सोने-चाँदी का भण्डार सुरक्षित बना रहे।

२. परिवर्तनीय नोट (Convertible or Redeemable Paper Money)

जैसा कि इनके नाम से ही मालूम होता है ये नोट धातु के सिक्कों में बदले जा सकते हैं अर्थात् जब कोई व्यक्ति इन नोटों के बदले में धातु या धातु के सिक्के लेना चाहता है तो सरकार इनके बदले में उसे सिक्के दे देती है। इस काम के लिए नोट चलाने से पहिले सरकार या नोट छापकर चलाने वाला बैंक अपने कोष में धातु या धातु के सिक्के जमा रख लेते हैं। परन्तु यहाँ नोटों के मूल्य के बराबर मूल्य की धातु या सिक्के नहीं रक्खे जाते। कोष का कुछ भाग धातु या सिक्कों के रूप में होता है और शेष भाग सिक्यूरिटीज़ (Securities) के रूप में रक्खा जाता है। परिवर्तनीय नोट चलाने से पहिले सरकार या नोट चलाने वाला बैंक इस बात को मान लेता है कि सभी नोटों के बदले में सिक्के माँगने के लिए सब लोग एक साथ नहीं आएंगे और इसलिए सभी नोटों के बदले में सिक्के देने की एक साथ आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। वे सोच लेते हैं कि जैसे-जैसे लोग नोटों के बदले में सिक्के माँगेंगे तैसे ही तैसे धीरे-धीरे उनके बदले में सिक्के दिए जा सकेंगे। यही अनुमान लगाकर सरकार या

बैंक अपने-अपने कोष में नोटों के मूल्य से कम मूल्य की धातु या सिक्के अपने पास रखते हैं।

सरकार या नोट चलाने वाला बैंक इन नोटों पर लिखकर यह वचन देता है कि जब कभी कोई व्यक्ति किसी समय भी इन नोटों के बदले में सिक्के माँगेगा तो उसे सिक्के दिए जाएँगे। विद्यार्थियों ने देखा होगा कि २, ५, १० तथा १०० रुपये के सभी नोटों पर बीच में अंगरेज़ी भाषा में Promise to Pay... आदि शब्द लिखे होते हैं और नीचे रिज़र्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर होते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया नोट छापकर चलाता है और रिज़र्व बैंक के गवर्नर इस बात का वचन देते हैं कि जब कोई व्यक्ति माँगेगा तो उस नोट के बदले उस पर लिखा हुआ मूल्य रुपये के सिक्कों में चुकाया जावेगा। इसलिए २, ५, १०, और १०० रुपये के नोट परिवर्तनीय कागज़ के नोट हैं जिनको कभी भी रुपये के सिक्कों में बदलवाया जा सकता है। ये नोट धातु-मुद्रा के साथ-साथ ही देश में चलाए जाते हैं। इन नोटों के चलाने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इनके मूल्य के बराबर मूल्य का सोना या चाँदी कोष में नहीं रखना पड़ता। क़ानून से निर्धारित सोना या चाँदी कोष में रखकर शेष भाग को सिक्यूरिटीज़ में लगा दिया जाता है जिससे सरकार व्याज कमा सकती है। कोष में रक्खी हुई सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए गए नोटों को Fiduciary Portion of note-issue कहते हैं।

३. अपरिवर्तनीय नोट (Inconvertible or Irredeemable Paper Money)

ये नोट वे होते हैं जिनको धातु या धातु के सिक्कों में नहीं बदलवाया जा सकता अर्थात् यदि कोई व्यक्ति इनके बदले में सरकार से धातु या सिक्के लेना चाहे तो सरकार इन नोटों के बदले में सिक्के देने के लिए क़ानूनन बाध्य नहीं होती। चूंकि ये नोट धातु या सिक्कों में नहीं बदलवाए जा सकते इसलिए इनको अपरिवर्तनीय-नोट कहते हैं। चूंकि सरकार या नोट चलाने वाला बैंक इन नोटों के बदले में सिक्के चुकाने के लिए बाध्य नहीं होता इसलिए वे अपने कोष में इन नोटों के लिए कोई भी धातु या सिक्के नहीं रखते। ये नोट सरकार के प्रति विश्वास के बल पर ही चलते हैं। प्रथम महायुद्ध काल में भारत सरकार ने १ रुपये और २॥ रुपये के नोट चलाये थे। ये सब नोट क़ानूनन धातु या सिक्कों में नहीं बदलवाये जा सकते थे। इसलिए ये अपरिवर्तनीय-नोट थे। इसी प्रकार गत विश्वयुद्ध काल में भी एक रुपये के नोट चलाए गए थे। ये भी अपरिवर्तनीय-नोट थे। ये नोट तो आज भी हमारे देश में चलते हैं। विद्यार्थियों ने देखा होगा कि १ रुपये के इन नोटों पर I Promise to Pay......आदि वे शब्द नहीं होते जो २, ५, १० और १००, रुपये के नोटों पर छपे रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि सरकार इन नोटों के बदले में सिक्के देने का वचन नहीं देती। हमारे देश में इन नोटों को रिज़र्व बैंक ऑफ

इण्डिया नहीं चलाती। इनको भारत सरकार का वित्त-विभाग जारी करता है। अपरिवर्तनीय-नोट दो प्रकार के होते हैं:—

(१) एक तो वे होते हैं जिनको सरकार छापकर चलाते समय तो परिवर्तनीय (Convertible) घोषित करती है परन्तु आगे चलकर अपरिवर्तनीय (Inconvertible) घोषित कर देती है। इसका अर्थ यह है कि जब ये नोट आरम्भ में चलाए जाते हैं तब तो इनको धातु या सिक्कों में बदलवाया जा सकता है परन्तु आगे चलकर जब सरकार इनके बदले में धातु के सिक्के नहीं चुका सकती तो इनको अपरिवर्तनीय घोषित कर दिया जाता है अर्थात् इनके बदले में सिक्के देना बन्द कर दिया जाता है।

(२) दूसरे वे होते हैं जो आरम्भ से ही अपरिवर्तनीय (Inconvertible) घोषित करके चलाए जाते हैं अर्थात् आरम्भ से ही जिनके बदले में सिक्के या धातु नहीं दिया जाता। ऐसे अपरिवर्तनीय-नोटों को "फायट-मुद्रा" (Fiat Money) कहते हैं।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो किसी भी प्रकार के नोट 'परिवर्तनीय-नोट' (Convertible Paper Money) नहीं कहे जा सकते क्योंकि नोटों के बदले में धातु या सिक्के देने न देने की खुशी सदा सरकार की होती है। नोट रखने वाले व्यक्ति का इसमें कोई अधिकार नहीं होता। सरकार जब चाहे तभी नोटों के बदले में सिक्के देना बन्द कर सकती है। अतः सब नोट एक प्रकार से सरकार की इच्छा पर परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय होते हैं।

प्रश्न यह होता है कि कागज़ के नोट किस बल पर चलते हैं? सिक्कों का तो अपना कुछ मूल्य होता है कि इनमें लगी हुई धातु को ही बेचा जा सकता है। परन्तु नोटों के कागज़ का तो कुछ भी मूल्य नहीं होता फिर भी लोग इनको खूब खुशी-खुशी लेते-देते हैं। इसका क्या कारण है? इसके दो कारण हैं:—

(१) क़ानून का बल — देश की सरकार कागज़ के नोटों को क़ानूनी-मुद्रा घोषित कर देती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को देश के अन्दर उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति इन्हें लेने से इन्कार करता है तो क़ानून से उस पर मुक़दमा चलाया जा सकता है। अतः क़ानून के बल से नोट चलते हैं।

(२) सरकार या नोट चलाने वाली बैंक के प्रति जनता का विश्वास— दूसरा कारण जिसकी वजह से देश में कागज़ के नोट चलते हैं वह है जनता और सरकार का पारस्परिक विश्वास। जनता यह विश्वास रखती है कि जब कभी उन नोटों के बदले में सिक्कों की आवश्यकता होगी तो सरकार उन नोटों को सिक्कों में बदल देगी। सरकार या या नोट चलाने वाली बैंक के पास इस काम के लिए धातु का और सिक्कों का एक कोष होता है जिसमें से वे जनता के मांगने पर नोटों के बदले में सिक्के चुकाते रहते हैं। यदि कभी जनता का यह विश्वास टूट जाय कि सरकार नोटों के बदले में सिक्के या धातु नहीं चुका पा रही तो हो सकता है कि नोटों को लोग इतनी सरलता से स्वीकार न करें जितना पहले करते थे।

अतः कागज़ के नोट चलने में क़ानून का बल और जनता का सरकार के प्रति विश्वास दोनों ही बातें आवश्यक हैं। परिवर्तनीय नोटों के चलने में इन दोनों बातों का बल होता है। परन्तु अपरिवर्तनीय-नोट केवल क़ानून के बल से ही चलते हैं क्योंकि इनके बदले में सिक्के नहीं दिये जाते। एक प्रकार से तो धातु के सिक्कों में भी क़ानून का बल होता है। कुछ मुद्रा-शास्त्रियों ने तो सिक्कों को भी "धातु पर छपे हुए नोट" कह कर पुकारा है। उनका कहना है कि सिक्कों और नोटों—दोनों ही के चलने का कारण क़ानून का बल है। बस अन्तर केवल यह है कि सिक्के धातु पर छापे जाते हैं और नोट कागज़ पर छापे जाते हैं।

पत्र-मुद्रा (नोटों) के गुण-धर्म

नोटों के भेद	(१) प्रतिनिधि-रूप नोट Representative Paper Money	(२) परिवर्तनीय-नोट Convertible Paper Money	(३) अपरिवर्तनीय-नोट Inconvertible Paper Money
कोष	नोटों के बराबर मूल्य का कोष सोने या चाँदी के रूप में रखना अनिवार्य है।	कोष का कुछ भाग धातु के रूप में तथा शेष भाग सिक्यूरिटीज़ के रूप में रखना पड़ता है।	किसी भी प्रकार का कोष नहीं रक्खा जाता।
गुण-धर्म	(अ) धातु की बचत नहीं अतः मितव्ययिता का अभाव;	(अ) जितने मूल्य की सिक्यूरिटीज़ रखी जाती है उतने मूल्य की धातु की बचत होती है और मितव्ययिता बनी रहती है;	(अ) धातु की बचत अतः मितव्ययिता;
	(ब) धातु नष्ट होने से बचती है;	(ब) लोच;	(ब) लोच;
	(स) लोच का अभाव;	(स) परिवर्तनीयता;	(स) आवश्यकता से अधिक चलाए जाने की सम्भावना;
	(द) परिवर्तनशील नोट; (य) सुरक्षिता।	(द) सुरक्षितता।	(द) अपरिवर्तनशीलता; (य) सुरक्षितता का अभाव।

(२) पत्र-मुद्रा (नोटों) से लाभ (Merits of Note Issue)

नोट चलाने से अनेक लाभ मिलते हैं :—

(१) सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि इनके चलने से धातु-मुद्रा (सिक्कों) की आवश्यकता कम हो जाती है जिससे सोने, चाँदी व अन्य धातुओं की बचत होती है। इन धातुओं को बचाकर देश के अन्य उद्योग-धन्धों में लगाया जा सकता है। आदम स्मिथ ने लिखा है "कि कागज़ के नोट आकाश-मार्ग की भाँति होते हैं—जिनकी नीचे की भूमि को भी काम में लाया जा सकता है और उस पर अन्न आदि पैदा करके मनुष्य की दूसरी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।"

(२) सिक्के बनाने के लिए सोने, चाँदी व अन्य धातुओं की आवश्यकता होती है। इन धातुओं को निकालने के लिए श्रम व पूंजी व्यय करने पड़ते हैं। यदि कागज़ के नोट चलाए जाएँ तो इन धातुओं को निकालने में जो श्रम और पूंजी व्यय होते हैं उनकी बचत हो सकती है और उस श्रम और पूंजी को देश के अन्य अधिक उपयोगी उद्योगों में लगाकर अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

(३) कागज़ के नोट चलाने से सिक्कों में व्यय और नष्ट होने वाले धातुओं की बचत होती है। सिक्के चलाने में धातु व्यय होती है और जैसे-जैसे सिक्के पुराने होते जाते हैं धातु नष्ट होती जाती है। यदि नोट चलाए जाएँ तो इस प्रकार नष्ट होने वाली धातु को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

(४) नोट चलाने से लेन-देन तथा राशि के लाने-लेजाने में सुविधा होती है। दूर-दूर स्थानों पर भुगतान चुकाने में भी सुविधा रहती है।

(५) नोट चलाने से सरकार को भी लाभ होता है। यदि किसी समय सरकार को राशि की आवश्यकता हो और सरकार के कोष में राशि न हो तो सरकार को दूसरों से रुपया उधार लेना पड़े। इस उधार ली हुई राशि पर सरकार को ब्याज देना पड़ेगा। परन्तु यदि सरकार नोट छाप कर चला दे तो उसे न राशि उधार लेने की आवश्यकता होगी और न ब्याज ही देना पड़ेगा। (परन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि देश में सिक्के भी चल रहे हों। सिक्कों को बन्द करके नोट चलाने से सरकार के प्रति जनता का विश्वास कम हो सकता है।)

(६) नोट चलाने से देश की मुद्रा पद्धति में लोच आती है अर्थात् इसका चलन मांग के अनुसार कम अथवा अधिक किया जा सकता है। यह बात धातु-मुद्रा (सिक्के) चलाने में सम्भव नहीं होती। इसका कारण यह है कि धातु-मुद्रा चलाने में सोने, चाँदी या अन्य धातु की आवश्यकता होती है और इनका उत्पादन सीमित ही रहता है। परन्तु नोट चलाने में यह नहीं होता। नोटों की संख्या शीघ्रता से घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

(७) नोट बनाने में व्यय भी कम होता है। इसके लिए थोड़े से व्यक्ति तथा एक मुद्रण-यन्त्र की और कागज़ की आवश्यकता होती है। अतः सिक्कों की अपेक्षा नोट बनाने में सुगमता एवं मितव्ययिता होती है।

(३) पत्र-मुद्रा (नोट) के दोष (Evils of Note Issue)

कागज़ के नोट चलाने से कुछ हानियां भी होती हैं:—

(१) सबसे बड़ी हानि तो यह है कि ये सरकार की इच्छा के अनुसार कितनी ही संख्या में छाप कर चलाए जा सकते हैं। इस प्रकार आवश्यकता से अधिक नोट छापकर चलाने का परिणाम यह होता है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और सामान्य जनता का जीवन-व्यय (Cost of Living) बढ़ जाता है। गत युद्ध-काल में लगभग सभी देशों में ऐसा हुआ। हमारे देश में भी नोटों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई। अगस्त १९३९ में देश में चलने वाले कुल नोटों की संख्या १७९ करोड़ रुपये के बराबर थी जो धीरे-धीरे बढ़ती गई और मार्च १९४७ में लगभग १२४२ करोड़ रुपये के बराबर हो गई। ● इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे। वस्तुओं के भाव बढ़ने से उपभोक्ताओं को बहुत कठिनाई भोगनी पड़ी। यदि कागज़ के नोट न चलाये जाते तो मुद्रा की मात्रा इतनी कभी नहीं बढ़ सकती थी क्योंकि तब सरकार को सिक्के चलाने के लिए धातु की आवश्यकता होती। नोट चलने में सबसे बड़ा दोष यही है कि बिना धातु रक्खे या थोड़ी धातु रख कर ही सरकार की इच्छा पर कितनी ही मात्रा में नोट छाप कर चलाये जा सकते हैं। इससे मुद्रा के मूल्य में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। सिक्कों के कारण मुद्रा के मूल्य में इतने भारी-भारी और इतने जल्दी-जल्दी उतार-चढ़ाव नहीं हो सकते जितने नोटों के कारण होते हैं।

(२) कागज़ के नोटों का दूसरा दोष यह है कि इनका अपना कोई मूल्य नहीं होता। ये कोष में रक्खे हुए धातु के सिक्कों के बल पर या सरकारी क़ानून के बल पर चलते हैं। नोटों के कागज़ का कोई मूल्य नहीं होता। अतः नोट देश की सीमा के अन्दर-अन्दर ही चल सकते हैं विदेशों में उनका कोई मूल्य नहीं होता। इसलिए नोट 'राष्ट्रीय-मुद्रा' कहलाते हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय-मूल्य कुछ नहीं होता। परन्तु सिक्कों के साथ यह बात नहीं है। सिक्के अपने देश में तो चलते ही हैं विदेशों में भी उनकी धातु को बेचा जा सकता है। इस प्रकार धातु के सिक्कों को 'अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा' भी कह सकते हैं।

(३) चूंकि नोट सरकार की इच्छा के अनुसार घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं इसलिए सरकार कभी भी इनका चलना बन्द कर सकती है। यदि कभी सरकार नोटों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दे तो जनता के पास रक्खे हुए नोटों का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। उनके पास केवल कागज़ के टुकड़े शेष रह जाते हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। यह बात सिक्कों के साथ नहीं होती। यदि कभी सरकार सिक्कों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दे तो भी जनता

● देखिए लेखक की "भारतीय मुद्रा का इतिहास" नामक पुस्तक। अध्याय ६ (मुद्रा-स्फीति)।

सिक्कों को गलाकर उनकी धातु को बाज़ार में बेच सकती है। सिक्कों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करने से जनता को कोई विशेष हानि नहीं होती। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि "पत्र-मुद्रा (नोट) किसी देश की सबसे अधिक भयंकर 'प्लेग' होती है। जितना कष्ट किसी भयंकर से भयंकर बीमारी से किसी व्यक्ति को होता है उससे भी अधिक कष्ट कागज़ी-मुद्रा से समाज को हो सकता है।"

(४) तेल या पानी से भीग जाने पर नोट शीघ्र ही ख़राब हो जाते हैं उन पर लिखा हुआ नम्बर मिट जाता है और तब उनका कोई मूल्य नहीं रहता। सिक्के इतनी जल्दी नष्ट नहीं हो सकते।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि पत्र-मुद्रा से होने वाली भयंकर हानियां सरकार या नोट चलाने वाली किसी बैंक की नासमझी, अज्ञानता या स्वार्थपरता के कारण होती हैं। पत्र-मुद्रा में स्वयं कोई बुराई नहीं होती। यह तो सरकार पर निर्भर होता है कि वह नोटों का प्रयोग जनता के हित के लिए करती है या जनता की बुराई के लिये करती है। यदि सरकार चाहे तो नोटों के द्वारा देश का, अपना तथा समाज का बहुत हित कर सकती है। नोटों का चलाना हितकर है परन्तु यदि सरकार स्वार्थी हुई तो नोट हित करने के बदले घातक सिद्ध हो सकते हैं।

(४) अपरिवर्तनीय-नोटों (Inconvertible Notes) की जटिलताएँ

(अ) अपरिवर्तनीय नोटों के अवगुण

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब किसी देश में युद्ध हुए या और कोई संकट आया तभी तभी उन देशों की सरकारों ने अपरिवर्तनीय-नोट छाप कर चलाए। ऐसी परिस्थितियों में सदैव ही सरकारों ने भारी-भारी संख्या में ऐसे नोट छापे। प्रथम महायुद्ध काल में ऐसा हुआ और गत विश्व युद्ध काल में भी ऐसा किया गया। प्रथम महायुद्ध काल में हमारे देश में १ और २½ रुपये के अपरिवर्तनीय नोट चलाये गए थे और द्वितीय युद्ध काल में भी एक-एक रुपये के करोड़ों नोट छाप कर चलाए गए जो आज तक चलते हैं। चूंकि इन नोटों के बदले में सरकार को अपने कोष में धातु या धातु के सिक्के रखने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए सरकार बिना किसी डर और हिचकिचाहट के ऐसे नोट छाप-छापकर चलाती रहती है। आवश्यकता से अधिक नोट छप कर चलने से मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव बढ़ने लगते हैं। वस्तुओं के भाव बढ़ने से लोगों का जीवन-व्यय भी बढ़ जाता है। व्यापार में उथल-पुथल सी मच जाती है तथा व्यापारिक लेन-देन में चोर-बाज़ारी, नफाख़ोरी आदि २ बुराइयाँ आ जाती हैं। अपरिवर्तनीय-नोट चलने से लोग सिक्कों को छिपाकर रखने लगते हैं और इन नोटों के द्वारा ही भुगतान लेने-देने का काम होने लगता है। सिक्कों को छिपाकर लोग या तो गलाकर सोने, चाँदी के रूप में बेचने लगते हैं या उन्हें विदेशों में भेज देते हैं जहाँ उनको धातु के रूप में बेच दिया जाता है। जैसा कि अभी बताया गया था आवश्यकता से अधिक मात्रा में अपरिवर्तनीय-नोट चलाने से वस्तुओं

के भाव बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं। वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ने से सट्टेखोरी बढ़ जाती है। वस्तुओं के उत्पादन की विधि बिगड़ सी जाती है तथा व्यापारी लोग नफाखोरी के नशे में आ जाते हैं। मज़दूरों तथा सामान्य जनता को बड़ी कठिनाई होती है। उनकी आय की क्रय शक्ति कम हो जाती है तथा वस्तुओं के भाव बढ़ने से उन्हें अपनी निश्चित आय में काम चलाना दूभर हो जाता है। अधिक संख्या में अपविर्त-नीय-नोट चलाने से विदेशी-विनिमय-दर भी गड़बड़ हो जाती है और विदेशी-व्यापार में भी विषमता आ जाती है। ऐसी परिस्थिति में अमीर और अधिक अमीर बनते जाते हैं तथा ग़रीब और अधिक ग़रीब बन जाते हैं। किन्ले नामक एक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि "अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (नोट) एक ऐसी मदिरा (शराब) है जिसकी दो-चार बूंदों से ही जनता और सरकारी अफ़सरों के दिमाग़ मस्त हो जाते हैं। तब उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता और वे अपरिवर्तनीय-नोट छापकर चलाने व न चलाने के विषय में कोई गम्भीर निर्णय नहीं कर पाते। इसका परिणाम यह होता है कि समाज और व्यापार में बुराइयाँ बढ़ जाती हैं और वे इतनी भयंकर हो जाती हैं कि उनको दूर करना असम्भव सा हो जाता है"।

किन्ले का यह कथन अक्षरशः सत्य है। इसका प्रमाण हमारे देश में ही देखने को मिलता है। गत युद्ध काल में भारत की विदेशी सरकार ने अपवर्तनीय-नोट चलाए। इतनी भारी संख्या में ये नोट चलाए गए कि देश में मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव बढ़ने से मजदूरों को, उपभोक्ताओं को तथा स्थाई आय वाले लोगों को बहुत मुसीबतों का सामना करना पड़ा। वस्तुओं के उत्पा-दन में उथल-पुथल हो गई तथा व्यापार में भी अस्थिरता आ गई। देश में वस्तुओं की कमी हो गई तथा उनके भाव कई गुने अधिक बढ़ गए। भाव बढ़ने से व्यापारियों ने काले-बाज़ार (Black Marketing) किए, चोरी से माल ऊँचे २ भावों पर बेचे, सट्टे किए, नफाख़ोरी की तथा माल को भी छिपा-छिपा कर रख लिया। सरकार ने इन बुराइयों को दूर करने के लिए क़ानून बनाए, खाने, पीने व पहिनने की चीज़ों पर अंकुश लगा दिए तथा सरकार ने अपने आप माल बेचने का भी प्रबन्ध किया। परन्तु इसका कोई विशेष परिणाम न निकला। आज भी यही परिस्थिति चल रही है। चोर-बाज़ार हैं, नफाख़ोरी है, सट्टेबाज़ी है तथा घूंसख़ोरी भी है। समाज में ये सब बुराइयां आज भी मौजूद हैं। इस परिस्थिति से किन्ले की इस कथन की पुष्टि होती है 'कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में अपरिवर्तनीय-नोट चलाने से सामाजिक दूषण पैदा हो जाते हैं और फिर उनको दूर करना कठिन हो जाता है।'

(ब) अपरिवर्तनीय नोटों के चलनाधिक्य के लक्षण

अब यह जानना आवश्यक है कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में नोट चलने का क्या अर्थ है—और यह कैसे मालूम किया जा सकता है कि अब अपरिवर्तनीय-नोट आवश्यकता से अधिक मात्रा में चल रहे हैं। यह तो पहले

बताया जा चुका है कि जब किसी देश में अपरिवर्तनीय-नोट चलने लगते हैं तो लोग सिक्कों को छिपाकर इकट्ठा करने लगते हैं और अपना लेन-देन का काम उन्हीं नोटों से करने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे सिक्कों का लोप होता जाता है और चलन में अपरिवर्तनीय-नोटों की संख्या बढ़ने लगती है। इसलिए साधारणतः जब कभी अपरिवर्तनीय-नोटों की संख्या बढ़ती जाए और इन नोटों की संख्या से कम सिक्के चलने से बन्द हों तो यह समझना चाहिए कि देश में आवश्यकता से अधिक नोट चल रहे हैं अर्थात् नोटों का 'ओवर-इश्यू' (over-issue) या चलनाधिक्य हो गया है। आवश्यकता से अधिक नोट चलने से समाज में बड़ी-बड़ी बुराइयाँ आ जाती हैं जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि देश में आवश्यकता से अधिक नोट चलने की स्थिति के पहचानने के क्या क्या चिन्ह होते हैं ? अर्थात् यह कैसे मालूम होता है कि किसी समय भी देश में आवश्यकता से अधिक नोट चल रहे हैं ?

(१) आवश्यकता से अधिक मात्रा में चलाए गए अपरिवर्तनीय-नोटों की परिस्थिति को पहिचानने का सबसे पहिला लक्षण यह होता है कि सोने के अनुपात में नोटों का मूल्य गिर जाता है तथा सोने के भाव बढ़ जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति विदेशों में भुगतान चुकाने के लिए सोना ख़रीदने लगता है जिससे सोने के भाव और अधिक बढ़ जाते हैं।

(२) सोने के भाव बढ़ने के कारण विनिमय-दर भी बढ़ जाती है। विनिमय-दर बढ़ने से विदेशी-व्यापार में भी फेर-बदल होने लगती है। अपरिवर्तनीय-नोट चलाने वाले देश का स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) मानने वाले देशों से होने वाला व्यापार बिगड़ जाता है।

(३) इसका तीसरा लक्षण यह होता है कि देश के अन्दर सिक्कों का चलना बन्द होने लगता है। जब अपरिवर्तनीय-नोट चलने लगते हैं तो सब लोग इन नोटों को ही काम में लाते हैं तथा सिक्कों को अपने पास इकट्ठा करने लगते हैं। इससे सिक्कों की कमी होने लगती है।

(४) आवश्यकता से अधिक नोट छपने से वस्तुओं के भाव भी बढ़ने लगते हैं। परन्तु ऐसा प्रायः तभी होता है जबकि नोटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। थोड़े-बहुत नोट बढ़ने से वस्तुओं के भावों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इन सब चिन्हों को देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि देश में अपरिवर्तनीय-नोट आवश्यकता से अधिक संख्या में चल रहे हैं या नहीं।

द्वितीय युद्ध-काल में हमारे देश में ठीक यही परिस्थिति हुई। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा अर्थात् एक रुपये के नोटों की संख्या बढ़ती गई और जैसे-जैसे इन नोटों की संख्या बढ़ी इनका मूल्य सोने के अनुपात में कम होने लगा। सोने के भाव बढ़ने लगे। वस्तुओं के भाव भी ऊँचे हो गए। सिक्कों की संख्या भी कम होती गई। इस प्रकार

आवश्यकता से अधिक संख्या में नोट चलने की परिस्थिति को संकेत करने वाले सभी चिन्ह हमारे देश में थे। परन्तु उस समय की विदेशी-सरकार ने उस परिस्थिति को न संभाला। अतः संकट बढ़ता ही गया और अन्त में देश को उन सब कठिनाइयों का शिकार बनना पड़ा जो उस समय अधिक नोट चलाने के कारण देश पर आकर पड़ीं।

कुछ लोगों का यह विचार है कि अपरिवर्तनीय-नोट (Inconvertible Note) चलने से देश में सदैव यह भय बना रहता है कि कहीं वे आवश्यकता से अधिक संख्या में न चला दिए जाएँ। इसलिए उन लोगों का मत है कि ऐसे नोटों को बिलकुल नहीं चलाना चाहिए। परन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। आवश्यकता पड़ने पर तो अपरिवर्तनीय-नोट अवश्य ही चलाने चाहिएँ। हाँ, उन नोटों की संख्या पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहना चाहिए। इसका एक-ही उपाय हो सकता है और वह यह कि जब कभी सरकार सोने के भाव बढ़ते देखे या विनिमय-दर ऊँची चढ़ते देखे तभी उसको यह छान बीन करनी चाहिए कि कहीं आवश्यकता से अधिक नोट तो नहीं चल रहे हैं। यदि ऐसा हो तो तत्काल ही सरकार को चाहिए कि वह और नोट न चलावे तथा चलने वाले नोटों को भी ख़ज़ाने में वापिस मंगा-मंगा कर नष्ट करदे। यही इसका एक सच्चा उपाय हो सकता है। यदि भारत की विदेशी सरकार चाहती तो युद्ध-काल में नोटों की संख्या बढ़ाना बन्द कर सकती थी। परन्तु उस सरकार का हित नोट छाप कर चलाने में ही था। अतः नोटों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती रही और मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणाम देशवासियों को भोगने पड़े।

(५) अपरिवर्तनीय सिक्के [Inconvertible Coins]

जिस प्रकार अपरिवर्तनीय-नोट होते हैं उसी प्रकार अपरिवर्तनीय-सिक्के भी होते हैं। अपरिवर्तनीय-नोट वे होते हैं जिनको धातु या धातु के सिक्कों में नहीं बदला जा सकता। इसी प्रकार "अपरिवर्तनीय-सिक्के" वे होते हैं जिनको सोने में नहीं बदला जा सकता। हमारे चाँदी के रुपये को अपरिवर्तनीय-सिक्का कहा जा सकता है क्योंकि यह सोने में नहीं बदलवाया जा सकता। रुपये के बदले में सरकार सोना नहीं देती।

(६) नोट-संचालन के कुछ सिद्धान्त और समस्याएँ:—

इसी अध्याय के आरम्भ में बताया जा चुका है कि परिवर्तनीय-नोट (Convertible Notes) उन नोटों को कहते हैं जिनको धातु या सिक्कों में बदलवाया जा सके अर्थात् जिसके बदले में सरकार या नोट चलाने वाला बैंक नोट लाने वाले व्यक्ति को देश की प्रामाणिक-मुद्रा (Standard Coin) दे दिया करे। इन नोटों के चलाने से धातु की बचत होती है तथा इनको आसानी से एक-स्थान से दूसरे-स्थान पर ले जाया जा सकता है। किसी भी देश की नोट-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जिससे जनता में सरकार के प्रति विश्वास बना रहे। नोट-व्यवस्था लोचदार होनी चाहिए अर्थात् ऐसी होनी चाहिए कि जिससे आवश्यकता पड़ने पर नोटों की संख्या बढ़ाई जा सके और जब आवश्यकता कम हो जाए तो नोटों की संख्या कम की जा सके। नोटों की

संख्या व्यापार और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। जब व्यापार बढ़ने लगे और लोगों को मुद्रा की आवश्यकता हो तो नोटों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए और जब व्यापार के लिए मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाए तो नोटों की संख्या भी कम कर देनी चाहिए। नोटों का लोचदार (Elastic) होना नोट व्यवस्था का एक बड़ा भारी गुण है। सिक्का-व्यवस्था उतनी लोचदार नहीं होती जितनी नोट-व्यवस्था हो सकती है। आवश्यकता पड़ने पर सिक्कों की संख्या उतनी आसानी से नहीं बढ़ाई जा सकती जितनी आसानी से नोटों की संख्या बढ़ाई जा सकती है। सिक्कों की संख्या बढ़ाने के लिए धातु की आवश्यकता होती है परन्तु नोटों की संख्या बढ़ाने के लिए उतनी धातु की आवश्यकता नहीं होती। एक समय था जबकि लोग समझते थे कि नोट-व्यवस्था का लोचदार होना कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। परन्तु आज सभी लोग मानने लगे हैं कि देश की नोट-व्यवस्था में लोच अवश्य होना चाहिए अर्थात् व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के साथ-साथ नोटों की संख्या भी घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। हमारे देश में तो यह बात और भी आवश्यक है क्योंकि हमारे यहाँ मुद्रा की माँग समय-समय पर बदलती रहती है। दूसरे, हमारे देश में साख-मुद्रा अर्थात् चेक, बिलों आदि का भी इतना प्रचार नहीं है जिससे वे-ही समय पड़ने पर लोगों की मुद्रा की माँग को पूरा कर सकें। इसलिए नोट-व्यवस्था का लोचदार होना बहुत-आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि नोट-व्यवस्था को लोचदार बनाने के लिए नोट चलाने का काम सरकार का होना चाहिए या बैंकों का होना चाहिए। इस विषय में मुद्रा शास्त्रियों के दो विचार हैं :—

(१) बैंकिंग-सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के मानने वाले लोगों का विचार है कि देश में नोट छापकर चलाने का काम किसी एक बैंक को देना चाहिए। यही बैंक देश में नोट छापकर चलाए और ये नोट परिवर्तनीय-नोट हों जिससे इनके बदले में माँगने पर सिक्के दे दिए जाया करें। इन लोगों का विश्वास है कि यदि परिवर्तनीय-नोट चलाए जाँयगे तो फिर बैंक इनको आवश्यकता से अधिक मात्रा में नहीं छाप सकेगी और न तब देश में मुद्रा-स्फीति होने का ख़तरा ही रहेगा। नोटों की संख्या बढ़ाने या कम करने का काम बैंक का-ही रहेगा। बैंक जब चाहेगी तभी आवश्यकता के अनुसार नोटों की संख्या घटा-बढ़ा दिया करेगी। इस प्रकार बैंक के द्वारा नोट चलाने से नोट-व्यवस्था में लोच आ जाएगी। बैंक को अपने कोष में कुछ धातु या सिक्के रखने की भी आवश्यकता रहेगी जिससे नोटों को सिक्कों में बदला जा सके।

(२) करेंसी सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के मानने वाले लोगों का विचार है कि देश में चलने वाले नोटों की संख्या सरकार के पास कोष में रक्खे हुए धातु और सिक्कों पर निर्भर होनी चाहिए। अर्थात् जितने मूल्य की धातु या सिक्के कोष में हों उतने ही मूल्य के नोट सरकार को चलाने चाहिएँ। यदि किसी समय धातु या सिक्कों के कोष में कमी हो जाए तो नोटों की संख्या भी कम कर देनी चाहिए और यदि कभी नोटों की संख्या बढ़ानी हो तो नोट चलाने से पहिले कोष में धातु या सिक्कों

की संख्या भी बढ़ा लेनी चाहिए। इस प्रकार आवश्यकता से अधिक नोट चलने का भय बिलकुल नहीं रहेगा और देश की नोट-व्यवस्था भी मुद्रा-स्फीति से सुरक्षित हो जाएगी। इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने का अधिकार सरकार का-ही होगा।

यदि विचार करके देखा जाए तो मालूम होता है कि इन दोनों-ही सिद्धान्तों में कुछ-न-कुछ सत्यता है। बैंकिंग-सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से नोट व्यवस्था में लोच आ सकती है परन्तु इसमें आवश्यकता से अधिक नोट चल जाने का भय भी रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने का अधिकार बैंक को होता है। बैंक को नोट चलाने से पहिले अपने कोष में कुछ धातु और सिक्के रखने पड़ेंगे परन्तु बैंक का यह कोष मज़बूत नहीं रहेगा क्योंकि जितने मूल्य के नोट चलाए जाएँगे उससे कम मूल्य की धातु या सिक्के कोष में रक्खे जाएँगे। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से यह हो सकता है कि बैंक कभी व्यापारिक परि-स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन न कर सके और आवश्यकता से अधिक नोट चलादे। यदि ऐसा हुआ तो देश में मुद्रा-स्फीति होगी और तब आर्थिक संकट पैदा हो जाएगा। इसलिए बैंकिंग-सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाना ख़तरे से खाली नहीं है। इसके विपरीत करेंसी-सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने में सरकार को नोटों के मूल्य के ठीक बराबर मूल्य की धातु या सिक्के अपने कोष में रखने पड़ेंगे। जब-तक कोष में रक्खी हुई धातु या सिक्कों की मात्रा नहीं बढ़ाई जाएगी तब-तक नोटों की संख्या भी नहीं बढ़ाई जा सकेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने में आवश्यकता से अधिक नोट चलने का भय तो नहीं रहेगा और न मुद्रा-स्फीति का ख़तरा-ही रहेगा परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से नोट-व्यवस्था में लोच नहीं आ सकेगी। नोटों की संख्या कोष पर-ही निर्भर रहेगी और बिना कोष बढ़ाए आवश्यकता होने पर भी नोटों की संख्या नहीं बढ़ाई जा सकेगी। इस प्रकार बैंकिंग-सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से नोट-व्यवस्था में लोच आएगी परन्तु मुद्रा-स्फीति का ख़तरा बना रहेगा और करेंसी-सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने से मुद्रा-स्फीति का ख़तरा तो नहीं रहेगा परन्तु नोट-व्यवस्था में लोच नहीं आ सकेगी। अतः यह आवश्यक है कि इन दोनों सिद्धान्तों को मिलाकर एक ऐसी व्यवस्था की जाए जिसके अनुसार नोट चलाने से दोनों-ही सिद्धान्तों के लाभ मिल सकें। नोट-व्यवस्था में लोच भी आ सके तथा उसमें मुद्रा-स्फीति होने का ख़तरा भी न रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि नोट चलाने का काम सरकार का हो या यह काम किसी बैंक को दे दिया जाए।

(७) नोट कौन चलाए ?

(अ) सरकार या बैंक ?

यदि किसी देश में नोट चलाने का काम उस देश की सरकार को दे-दिया जाए तो सरकार नोट चलाने का ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकेगी। सरकार को देश

की व्यापारिक तथा औद्योगिक-परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण उनकी आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की मात्रा घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं हो सकेगा। इसका परिणाम यह होगा कि नोट-व्यवस्था में आवश्यक लोच नहीं आ सकेगी। परन्तु यदि नोट चलाने का काम देश की केन्द्रीय-बैंक को दिया जाए तो वह बैंक देश की व्यापारिक तथा औद्योगिक-परिस्थितियों का ठीक-ठीक अध्ययन करके आवश्यकतानुसार नोटों की संख्या घटा-बढ़ा सकेगा। सरकार व्यापारिक तथा औद्योगिक-क्षेत्रों से अलग रहती है इसलिए वह देश की व्यापारिक-स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं कर सकेगी। जब देश की व्यापारिक-स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन न होगा तो सरकार नोट व्यवस्था का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकेगी। केन्द्रीय-बैंक व्यापारिक-क्षेत्रों के सम्पर्क में रहता है इसलिए उसे देश की व्यापारिक-स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान होगा और उसी के अनुसार वह नोटों की संख्या में आवश्यक फेर-बदल कर सकता है। सरकार द्वारा नोट चलाने से सबसे बड़ी हानि यह होगी कि देश की नोट व्यवस्था पर राजनीति और दलबन्दी का अधिकार हो जाएगा। सरकार की स्वार्थ-नीति के कारण नोटों की मात्रा घटने-बढ़ने लगेगी जिससे मुद्रा-स्फीति का सदैव डर बना रहेगा। सरकार कभी-भी दलबन्दी, बजट-नीति तथा अन्य कारणों से नोटों की संख्या में फेर-बदल कर दिया करेगी जिससे देश के व्यापारिक-हितों को हानि होने का भय रहेगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक अवसरों पर सरकार ने अपने स्वार्थ के लिए नोटों की संख्या में फेर-बदल किए और इसमें व्यापार और उद्योगों को बड़ी-बड़ी हानियाँ उठानी पड़ीं। सरकार के द्वारा नोट चलाने में दूसरा दोष यह रहेगा कि सरकार-ही देश की मुद्रा-व्यवस्था का प्रबन्ध करने लगेगी और उसकी इन क्रियाओं पर किसी बाह्य-शक्ति का नियन्त्रण नहीं रहेगा। इसलिए सरकार जो चाहेगी मन-माना करती रहेगी। ये सब दोष केन्द्रीय-बैंक के द्वारा नोट चलाने में नहीं रहेंगे। केन्द्रीय-बैंक में न कोई राजनीति होगी, न दलबन्दी होगी और न उसका कोई अपना स्वार्थ होगा। केन्द्रीय-बैंक तो देश की वास्तविक-परिस्थिति के अनुसार नोट-व्यवस्था का संचालन करता रहेगा। एम०एच०डी० कॉक ने लिखा है कि "केन्द्रीय-बैंक द्वारा नोट चलाने से एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि बैंक सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति का विरोध करके अपनी वास्तविकता के साथ देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध करती रहेगी।" परन्तु हमें इस बात में भी कुछ सन्देह मालूम होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब सरकारों को अपनी किसी नीति के कारण देश की नोट-व्यवस्था में कुछ-भी परिवर्तन कराने की आवश्यकता हुई तभी-तभी उन्होंने केन्द्रीय-बैंकों पर दबाव डालकर उनसे वह काम करा लिया। पार्कर विलस ने भी लिखा है "जब-जब सरकारों को केन्द्रीय-बैंकों की नोट चलाने की नीति में परिवर्तन कराने की आवश्यकता हुई तभी-तभी उन्होंने किसी-भी प्रकार दबाव से या समझाकर केन्द्रीय-बैंकों को पटा लिया और

नोट-व्यवस्था को अपनी नीति के अनुसार चलाना आरम्भ किया।* हमारे देश में तो ऐसा गत महायुद्ध-काल में ही हुआ है। सरकार को उस समय नोट चलाने की आवश्यकता थी। इसलिए भारतवर्ष की विदेशी-सरकार ने रिज़र्व-बैंक द्वारा नोट चलवाए जिससे देश को मुद्रा-स्फीति के कष्ट भोगने पड़े। किन्तु फिर भी बैंक द्वारा ही देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध होने से देश को अधिक लाभ पहुँच सकता है।

(ब) एक बैंक या अनेक बैंक ?

यह निश्चित करने के बाद कि देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध सरकार के हाथ में न देकर बैंक के-ही अधिकार में देना चाहिए, अब यह प्रश्न उठता है कि देश में नोट चलाने का काम एक-ही बैंक को दिया जाए या अनेक बैंकों को दिया जाए। सिद्धान्ततः तो यही बात ठीक है कि देश में नोट चलाने का काम केवल एक-ही बैंक को मिलना चाहिए। क्योंकि देश की साख-व्यवस्था (Credit System) का प्रबन्ध प्रायः देश के केन्द्रीय-बैंक के अधिकार में रहता है इसलिये यह आवश्यक है कि उसी बैंक को नोट चलाने का अधिकार भी दे दिया जाए। यदि एक-ही बैंक के पास नोट चलाने का तथा साख व्यवस्था का-भी काम होगा तो वह बैंक इन दोनों का प्रबन्ध अच्छी तरह-से कर सकेगा। इससे देश की मुद्रा-मण्डी को-भी लाभ रहेगा।

यदि नोट चलाने का काम कई बैंकों को दे दिया जाएगा तो नोटों के बदले में रक्खे जाने वाले कोष कई बैंकों के पास इकट्ठे हो जाएँगे। इससे कोषों की शक्ति मज़बूत नहीं हो सकेगी। यदि केन्द्रीय-बैंक ही नोट चलाएगा तो नोटों के बदले में रक्खा जाने वाला कोष एक-ही स्थान पर रहेगा। इससे केन्द्रीय-बैंक को बल मिलेगा और वह उसका अधिक-से-अधिक उपयोग भी कर सकेगा।

सभी बैंकों को नोट चलाने का अधिकार देने से उन बैंकों में आपस में प्रतियोगिता होने लगेगी और सम्भव है तब उनमें से कोई बैंक आवश्यकता से अधिक नोट चलादे। ऐसा करने से मुद्रा-स्फीति का भय बना रहेगा। यदि कभी किसी बैंक ने प्रतियोगिता में आकर अपने पास कोष न रखा और नोट छापकर चला दिए तो उस समय आर्थिक-संकट होने का ख़तरा हो जाएगा। लोग उस बैंक से नोटों के बदले में सिक्के माँगने लगेंगे और यदि वह बैंक तब नोटों के बदले में सिक्के न चुका सका तो देश की नोट-व्यवस्था भंग होने का ख़तरा पैदा हो जाएगा।

कई बैंकों को नोट चलाने का अधिकार मिलने से देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध अनेक हाथों में पहुँच जाएगा तथा नोट छापकर चलाने की ज़िम्मेदारी उन में बँट जाएगी। इस प्रकार देश-भर की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध करना कठिन हो जाएगा। इन कारणों से नोट चलाने का काम एक-ही बैंक को मिलना चाहिए जिससे उस बैंक को उसकी

---

* Parker Willis—The Theory and Practice of Central Banking—P. 265.

भलाई-बुराई के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जा सके। एक-ही बैंक के द्वारा चलाए गए नोटों का देश में सम्मान-भी होता है तथा व्यापारिक-क्षेत्रों में लोग उनका कुछ मूल्य भी समझते हैं। एक-ही बैंक द्वारा चलाए गए नोटों से जनता का उस बैंक में तथा उसके नोटों में विश्वास-भी बना रहता है। परन्तु नोट छापकर चलाने वाली बैंक को नोट छापकर चलाने में कुछ सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। बिना किसी सिद्धान्त के नोट छापकर चलाने से देश की नोट-व्यवस्था में गड़बड़ी हो सकती है। नोट चलाने वाली बैंक को नोट चलाने में नीचे-लिखे हुए सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए :—

(८) बैंक द्वारा नोट-संचालन के कुछ सिद्धान्त

(१) जब-कभी कोई व्यक्ति नोटों के बदले में सिक्के माँगने के लिए आवे तो नोट छापकर चलाने वाली बैंक को चाहिए कि वह तत्काल-ही उनके बदले में सिक्के दे। ऐसा करने से जनता का नोटों में विश्वास बना रहेगा।

(२) बैंक को चाहिए कि वह देश की नोट-व्यस्था को लोचदार बनाने का प्रयत्न करे अर्थात् व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार नोटों की संख्या बढ़ावे और घटावे। जब-कभी देश में मुद्रा की माँग बढ़ने लगे तभी बैंक को तत्काल नोटों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए और जब-कभी मुद्रा की माँग कम होने लगे तभी नोटों की मात्रा कम कर देनी चाहिए।

(३) बैंक को मुद्रा-मण्डी के हित को ध्यान में रख कर नोटों का प्रबन्ध करना चाहिए। नोट चलाने वाली बैंक को व्यापारियों से बिल (Bill) व प्रॉमिज़री-नोट (Promissory Notes) ख़रीद कर उनकी सहायता करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। इससे देश की नोट-व्यवस्था केवल लोचदार-ही नहीं होती वरन् मज़बूत भी बनती है। इस प्रकार बिलों की ख़रीद-बेच करने से मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की मात्रा अपने-आप घटने-बढ़ने लगती है। बैंक को यह भी चाहिए कि वह देश की साख-व्यवस्था के अनुसार नोटों को चलाने का प्रबन्ध करे।

(४) बैंक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि देश में चलने वाले नोटों की संख्या न तो बहुत अधिक हो जिससे देश में मुद्रा-स्फीति का संकट आ जाए और न इतनी कम हो कि मुद्रा-मण्डी में मुद्रा की कमी अनुभव होने लगे। यदि बैंक इन दोनों बातों को देखता रहा तो देश में मूल्य-स्तर स्थिर बना रहेगा और उसमें कोई बहुत-भारी-भारी उतार-चढ़ाव नहीं होंगे।

इन सब बातों को देखने के लिए नोट चलाने वाली बैंक को स्वयं ध्यान रखना चाहिए। यदि हो सके तो देश की सरकार को एक ऐसा क़ानून बना देना चाहिए जिसके अनुसार नोट चलाने वाली बैंक नोट चलाने का प्रबन्ध कर सके। उस क़ानून के द्वारा, नोटों के बदले में रक्खे जाने वाले कोष की न्यूनतम सीमा अवश्य निर्धारित कर देनी चाहिए। कोष की सीमा निर्धारित करते समय यह भी निश्चित कर देना चाहिए कि उस कोष में धातु, सिक्के तथा सिक्यूरिटीज़ भी रक्खी जाएँ जिससे कोष मज़बूत भी बन सके तथा उपयोगी भी हो। न तो उस कोष में केवल धातु-ही-धातु या सिक्के-ही-सिक्के होने चाहिएँ और न केवल सिक्यूरिटीज़-ही होनी चाहिएँ।

(९) क्या कागज़ के नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं ?

कागज़ी-मुद्रा या नोटों के विषय में इतना अध्ययन करने के पश्चात् एक प्रश्न उठता है कि क्या कागज़ के नोट देश की सम्पत्ति हैं ? या क्या नोट चलाने से देश की सम्पत्ति में कुछ बढ़ोत्तरी होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर समझने से पहिले यह याद रखना चाहिए कि सम्पत्ति उत्पादन करने के लिए किसी-न-किसी वस्तु की आवश्यकता तो होती-ही है। सम्पत्ति केवल बातों से-ही नहीं बनाई जा सकती। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि कागज़ के नोट-भी कुछ-न-कुछ वस्तु तो अवश्य हैं और इसलिए इनके द्वारा यदि देश की सम्पत्ति में बढ़ोत्तरी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं समझना चाहिए। आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता आदम स्मिथ ने ही इस प्रश्न पर पहिले-पहल विचार किया था। उन्होंने समझाया कि हम सड़कों पर चलते हैं। यदि हम सड़कों को छोड़ हवा में चलने लगें तो सड़क बनाने की आवश्यकता नहीं होगी और तब सड़कों की भूमि पर कृषि करके अन्न उत्पन्न किया जा सकेगा। ठीक यही बात नोटों के साथ है। नोट चलाने से धातु-मुद्रा (सिक्कों) की उतनी आवश्यकता नहीं रहती और तब कुछ सिक्कों को गलाकर उनकी धातु को सम्पत्ति-उत्पादन के अन्य कामों में लगाने से देश में सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार आदम स्मिथ ने समझाया कि नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाने में परोक्ष रूप से सहायता करते हैं। आदम स्मिथ को यह बात सत्य तो मालूम होती है परन्तु ध्रुव-सत्य नहीं मालूम देती क्योंकि कभी-कभी ऐसा-भी हो सकता है कि नोट चलाकर लोग सिक्कों को गला लें और इस प्रकार उन्हें जो धातु मिले उसे पूँजी के काम में न लाकर आभूषण आदि बनाने में लगादें। ऐसी परिस्थिति में नोट सम्पत्ति बढ़ाने का काम नहीं कर सकते। आदम स्मिथ का तर्क तभी सत्य हो सकता है जबकि हम यह मानलें कि जितने नोट चलेंगे उतने-ही मूल्य के सिक्कों को गला कर लोग उनकी धातु की सहायता से मशीनें, कच्चा-माल या अन्य ऐसी वस्तुएँ ख़रीदेंगे जिनसे देश की सम्पत्ति बढ़ सके। इसलिए यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि "जितना उत्पादन का काम

किसी देश में कुल सिक्के करते हैं यदि उससे अधिक उत्पादन सिक्के और नोट मिला कर करें तो यह समझना चाहिए कि नोटों के द्वारा देश की सम्पत्ति में बढ़ोत्तरी हो रही है।" कभी-कभी सरकार को मुद्रा की आवश्यकता होती है। तब सरकार को विदेशों से धन उधार लेना पड़ता है जिस पर उसे ब्याज देना पड़ता है। यदि सरकार विदेशों से धन उधार लेने के बजाय देश में-ही नोट चलाकर अपनी आवश्यकता पूरी करले तो इस प्रकार विदेशों को जाने वाले ब्याज की रक़म देश में-ही रह सकती है। इस दृष्टि-कोण से नोट विदेशों को जाने वाली सम्पत्ति को देश में-ही रोक लेते हैं।*

(१०) नोट चलाने की आधुनिक प्रणालियाँ

[Existing Methods of Note Issue]

संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से नोट छापकर चलाए जाते रहे हैं। आज-भी अलग-अलग देशों में नोट चलाने के अलग-अलग तरीके काम में लाए जाते हैं। परन्तु अधिकाँश देशों में प्रायः वहाँ के केन्द्रीय-बैंक ही नोट छापकर चलाते हैं। उन देशों की सरकारों ने इन बैंकों द्वारा नोट चलाए जाने के लिए कुछ नियम बना दिए हैं जिनके अनुसार वहाँ के केन्द्रीय-बैंक नोट छापकर चलाते हैं। कुछ देशों की सरकारों ने नोट चलाने की महत्तम-सीमा (Maximum Limit) निश्चित कर दी है। वहाँ के केन्द्रीय-बैंक इन सीमाओं से अधिक राशि के नोट नहीं चला सकते। कुछ देशों ने नोटों के बदले में रिज़र्व (कोष) रखने के नियम बना दिए हैं और यह निश्चित कर दिया है कि जब-तक नोट चलाने वाले बैंक के पास नियमानुसार कोष नहीं होंगे तब-तक वे नोट नहीं चला सकेंगे। बैंकों को इन कोषों में धातु (सोना-चाँदी) सिक्के, बिल (Bill) तथा अन्य सिक्यूरिटीज़ (Securities) रखनी पड़ती हैं। इस प्रकार लगभग सभी देशों में नोट-व्यवस्था पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। किसी देश में नोट व्यवस्था को लोचदार (Elastic) बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो किसी देश में उसे मुद्रा-स्फीति से सुरक्षित रखने का उपाय किया जाता है जिससे मुद्रा-स्फीति के दोष न आने पावें। नोट चलाने की मुख्य-मुख्य प्रणालियाँ निम्न हैं :—

(१) स्थाई "महत्तम-सीमा" प्रणाली

[Fixed Maximum Limit Method]

इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की केन्द्रीय-सरकार देश में चलाए जाने वाले नोटों की महत्तम-सीमा (Maximum Limit) निश्चित कर देती है। यह सीमा क़ानून के द्वारा निश्चित की जाती है। उस देश का केन्द्रीय-बैंक किसी-भी परिस्थिति में इस सीमा से अधिक राशि के नोट नहीं चला सकता। यदि किसी समय

* वादिया और जोशी लिखित "मनी और भारतीय मनी मार्केट" नामक पुस्तक से उद्धृत - पृ. सं. १३४।

देश में इस सीमा से अधिक राशि के नोट चलाने की आवश्यकता होती है तो क़ानून के द्वारा-ही नोट चलाने की महत्तम-सीमा (Maximum Limit) को बढ़ा दिया जाता है और तब केन्द्रीय-बैंक सीमा से अधिक नोट छापकर देश की आवश्यकताओं को पूरा करता है। इस प्रकार नोट चलाने से देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय कम रहता है क्योंकि केन्द्रीय-बैंक सरकार द्वारा निश्चित की हुई सीमा से अधिक मूल्य के नोट नहीं चला सकता। परन्तु इस प्रणाली में एक बड़ा-भारी दोष यह है कि इससे देश की नोट-व्यवस्था लोचदार (Elastic) नहीं बन सकती; यदि कभी किसी देश में अधिक मूल्य के नोट चलाने की आवश्यकता आ पड़े तो जब-तक क़ानून पास करके नोट चलाने की महत्तम-सीमा न बढ़ा-दी जाए तब-तक आवश्यकतानुसार अधिक मूल्य के नोट नहीं चलाए जा सकते। इसमें दूसरा दोष यह है कि इस प्रकार नोट चलाने में अनिश्चितता uncertainty) रहती है। सरकार भी यह निश्चित नहीं कर पाती कि क़ानून के द्वारा नोट चलाने की जो सीमा निर्धारित की गई है उतने मूल्य के नोट चलाने से देश का काम चल जाएगा या नहीं। यह भी हो सकता है कि निश्चित की-हुई सीमा के बराबर मूल्य के चलाए हुए नोट देश में बहुत-अधिक हो जाएँ। ऐसी परि-स्थिति में देश में मुद्रा-स्फीति हो सकती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने का सबसे-बड़ा दोष यही है कि देश में व्यापार और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार नोट नहीं चलाए जा सकते वरन् क़ानूनी-सीमा के अनुसार नोट चलाए जाते हैं।

१९२८ तक फ्रान्स ने इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए थे, परन्तु इनके दोषों के कारण उन्होंने इस प्रणाली को छोड़ दिया। १९३७ में आस्ट्रेलिया के रॉयल कमीशन ने आस्ट्रेलिया में इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाने की सिफ़ारिश की थी। कमीशन ने सुझाया था कि आस्ट्रेलिया की केन्द्रीय-बैंक द्वारा चलाए जाने वाले नोटों की महत्तम-संख्या निश्चित कर देनी चाहिए परन्तु इसके साथ-ही-साथ बैंक को यह अधिकार-भी दे देना चाहिए कि वह समय पड़ने पर, सरकार के वित्त-विभाग से आज्ञा लेकर, इस निश्चित संख्या से-भी अधिक मूल्य के नोट छाप कर चला सकती है।

(२) "स्थायी विश्वसनीय" प्रणाली
[Fixed Fiduciary System]

इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलाने से पहिले एक कोष बनाना पड़ता है। इस कोष में सोना, चाँदी और सिक्यूरिटीज़ रक्खी जाती हैं। कोष में रक्खी जाने वाली सिक्यूरिटीज़ की मात्रा क़ानून द्वारा निश्चित की जाती है। जितने मूल्य की सिक्यूरिटीज़ बैंक में रक्खी जाती हैं उतने-ही मूल्य के नोट इन-सिक्यूरिटीज़ के बल पर चला दिए जाते हैं। यदि इससे अधिक मूल्य के नोट चलाने होते हैं तो उनके बराबर मूल्य का सोना और चाँदी कोष में रखना पड़ता है। कोष में रक्खी हुई सिक्यूरिटीज़ की मात्रा में क़ानून द्वारा ही फेर-बदल किया जा सकता है। यदि किसी समय नोटों की मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता होती है तो नोट चलाने से पहिले उनके बराबर मूल्य का सोना और चाँदी कोष में रख लेना पड़ता है।

उदाहरण :—मान लो ३०० करोड़ रुपये के नोट चलाने हैं परन्तु क़ानून द्वारा कोष में केवल ४० करोड़ रुपये की सिक्यूरिटीज़ रक्खी जा सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में ४० करोड़ रुपये के नोट तो सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते हैं। शेष २६० करोड़ के नोट चलाने से पहिले इतने-ही मूल्य का सोना या चाँदी कोष में रखना पड़ेगा। अगर कभी १ करोड़ रुपये के नोट और चलाने पड़ें तो १ करोड़ रुपये का सोना या चाँदी कोष में फिर रखना पड़ेगा और तभी नोट चलाए जा सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि निश्चित-राशि की सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए गए नोटों को छोड़कर शेष सब नोटों के लिए बराबर मूल्य का सोना और चाँदी कोष में रखना अनिवार्य है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें थोड़े-से मूल्य के नोटों को छोड़ कर (जो सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जाते हैं) अन्य सभी नोटों के बदले में बराबर मूल्य का सोना-चाँदी रखना पड़ता है। इससे कोई-भी सरकार या केन्द्रीय-बैंक आवश्यकता से अधिक मूल्य के नोट आसानी से छापकर नहीं चला सकती। इसलिए इस प्रणाली में मुद्रा-स्फीति होने का अधिक ख़तरा नहीं होता। परन्तु इसमें सबसे-बड़ा-दोष यह है कि इस प्रणाली से देश की नोट-व्यवस्था लोचदार नहीं बन सकती। क्योंकि इस प्रणाली में नोटों की संख्या बढ़ाना सोने-चाँदी के कोष पर निर्भर होता है इसलिए नोटों को केवल सोने-चाँदी के बल पर-ही बढ़ाया जा सकता है आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं। यदि किसी समय नोट छापने की आवश्यकता हुई परन्तु सोना-चाँदी न हुआ तो नोट नहीं चलाए जा सकते।

इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने-चाँदी को कोष में रखकर निठल्ला बना दिया जाता है जिससे उसका और कोई अच्छा उपयोग नहीं हो पाता। यह प्रणाली केवल उन देशों के लिए अच्छी है जिनके पास सोना-चाँदी अधिक हो और जिनका व्यापार उन्नति पर हो। छोटे-मोटे ग़रीब देशों के लिए यह प्रणाली ठीक नहीं है क्योंकि न तो उनके पास कोष में सोना-चाँदी होगा और न वे नोट चला सकेंगे।

इंगलैण्ड में इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। दिसम्बर १६४५ को १४००,०००,००० पौण्ड के नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते थे तथा अन्य नोटों को चलाने के लिए बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड को बराबर मूल्य का सोना और चाँदी रखना पड़ता था। जब कभी सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलने वाले नोटों का मूल्य बढ़ाना होता था तो इंगलैण्ड की पार्लियामैण्ट क़ानून पास करके सिक्यू-रिटीज़ रखने की मात्रा बढ़ा दिया करती थी और फिर इन सिक्यूरिटीज़ के बल पर नोट चला दिए जाते थे। इस प्रकार नोट-व्यवस्था में लोच लाने के लिए समय-समय पर कानून में संशोधन करके सिक्यूरिटीज़ की मात्रा बढ़ानी पड़ती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए १६२८ में Currency and Bank Note Act पास किया

गया। इसके अनुसार बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड को-ही यह अधिकार दे दिया गया कि वह सरकारी वित्त-विभाग से आज्ञा लेकर कोष में सिक्यूरिटीज़ की मात्रा बढ़ा सकती है और फिर उसके बल पर नोट चला सकती है। इसी नियम के अनुसार 'बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड ने गत विश्वयुद्ध-काल में अनेक बार सिक्यूरिटीज़ की मात्रा बढ़ाकर नोटों की संख्या बढ़ाई थी। इस प्रकार अब इंगलैण्ड की नोट-प्रणाली में थोड़ी लोच आगई है।

जापान में भी इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। वहाँ लगभग १५००,०००,००० यैन (yen) के नोट तो •सिक्यूरिटीज़ के बल पर छापे जा सकते हैं परन्तु इससे अधिक राशि के नोट चलाने के लिए उतने-ही मूल्य का सोना और चाँदी कोष में रखना पड़ता है। जापान और इंगलैण्ड के अतिरिक्त नार्वे, फिनलैण्ड और इटली ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। भारत ने कुछ समय तक इसी प्रणाली को अपनाया था। हमारे देश में प्रथम महायुद्ध-काल तक २० करोड़ रुपये के नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चल सकते थे और इसके आगे नोट चलाने के लिए उनके बराबर मूल्य का सोना और चाँदी कोष में रखना पड़ता था। अब भारत में अनुपातिक-कोष-प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। इसका वर्णन आगे किया गया है।

(३) "आनुपातिक-कोष" प्रणाली
[Proportional Reserve System]

इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलाने वाली बैंक को चालू नोटों के बदले में कम-से-कम निर्धारित सोना अवश्य रखना पड़ता है तथा बाकी नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते हैं। नोटों के बदले में रक्खे जाने वाले सोने की निर्धारित मात्रा क़ानून के द्वारा निश्चित की जाती है। प्रत्येक केन्द्रीय-बैंक को नोट चलाने से पहिले कम-से-कम निर्धारित सोने की मात्रा अपने कोष में रखनी-ही पड़ती है परन्तु समय पड़ने पर कभी इससे कम सोना भी कोष में रक्खा जा सकता है। इसके लिए बैंक को केन्द्रीय-सरकार के वित्त-विभाग से आज्ञा लेनी पड़ती है।

उदाहरण :—मान लो कि चलाए जाने वाले कुल नोटों के बदले में कम-से-कम ४०% सोना रखना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में यदि १०० रुपये के नोट चलाए जाएँ तो कम-से-कम ४० रुपये के मूल्य का सोना कोष में रखना पड़ेगा। बाकी ६० रुपये के नोट सिक्यूरिटीज़ या चाँदी के बल पर चलाए जा सकते हैं। इसी प्रकार अगर २०० रुपये के नोट और चलाए जाएँ तो कम-से-कम ८० रुपये के मूल्य का सोना कोष में और बढ़ाना पड़ेगा तथा बाकी १२० रुपये के नोट सिक्यूरिटीज़ तथा चाँदी के बल पर चलाए जा सकते हैं।

इस प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें नोटों की संख्या बढ़ाने के लिए उनके बदले में बराबर मूल्य का सोना या चाँदी नहीं रखना पड़ता। केवल ४० रुपये के मूल्य के सोने के बल पर १०० रुपये के मूल्य तक के नोट चलाए जा सकते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बाकी ६० रुपये के नोटों के लिए कोई बल न हो। ६० रुपये के नोटों के बदले में सिक्यूरिटीज़ रखनी पड़ेंगी।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके अनुसार नोट चलाने से देश की नोट-व्यवस्था लोचदार बनती है अर्थात् देश की आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि देश में से कभी सोना बाहर जाने लगे और केन्द्रीय-बैंक के कोष में सोने की मात्रा कम हो जाय तो नोटों को चलने से एक साथ रोक कर उनकी मात्रा कम करनी पड़ेगी। इस प्रकार देश में नोटों की कमी पड़ सकती है। डेविडसन नामक एक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि "अनुपातिक-कोष प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उस समय मालूम होता है जब देश का सोना बाहर जाने लगता है और केन्द्रीय-बैंक के पास कोष में सोने की कमी होने लगती है। यदि किसी समय केन्द्रीय-बैंक के कोष में सोने की थोड़ी-भी मात्रा कम होने लगे तो चालू-नोटों की बहुत-बड़ी मात्रा को चलने से रोकना पड़ेगा। तब मुद्रा मण्डी में मुद्रा की कमी हो सकती है और वस्तुओं के भाव एक-दम नीचे गिर सकते हैं जिससे व्यापार और उद्योग में उथल-पुथल हो सकती है।" इस प्रणाली में यह भी दोष है कि थोड़ा-सा सोना कोष में बढ़ने से उससे अधिक मूल्य के नोट छापे जा सकते है जिससे देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय सदैव बना रहता है। प्रोफेसर कीन्स ने इस प्रणाली को "फेशनेबिल-प्रणाली" (the most fashionable system) कहकर पुकारा है।

आनुपातिक-कोष प्रणाली अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, फ्राँस, अर्जेनटाइना, कैनेडा, न्यूज़ीलैण्ड, यूगोस्लेविया आदि देशों में अपनाई जाती है। भारत में भी इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। (इसका वर्णन आगे देखिए) भारत में चालू-नोटों के बदले में कम-से-कम ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के तथा सोने की सिक्यूरिटीज़ में रखना पड़ता हैं। नोटों के बदले में रखे जाने वाले सोने की मात्रा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है।

(११) आनुपातिक-कोष प्रणाली तथा स्थाई विश्वसनीय प्रणाली का भेद

[Difference between Proportional Reserve Method and Fixed Fiduciary Method]

अधिकाँश देशों में मानी जाने वाली नोट चलाने की इन प्रणालियों का भेद जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थियों को इसे भली भाँति समझ लेना

चाहिए। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है आनुपातिक-कोष प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलाते समय केन्द्रीय-बैंक को चलाए जाने वाले नोटों के बदले में कम-से-कम निर्धारित सोना अपने कोष में रखना अनिवार्य है। कोष में रक्खे जाने वाले निर्धारित सोने की मात्रा क़ानून के द्वारा निश्चित की जाती है। कम-से-कम निर्धारित सोने की मात्रा के बल पर चलाए हुए नोटों के अतिरिक्त जो नोट चलाए जाते हैं उनके बदले में सिक्यूरिटीज़ रखनी होती हैं। इसके विपरीत स्थाई विश्वसनीय प्रणाली (Fixed Fiduciary Method) में सरकार सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जाने वाले नोटों का मूल्य क़ानून के द्वारा निश्चित कर देती है। केवल उसी मूल्य के नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते हैं। यदि इससे अधिक मूल्य के नोट चलाने होते हैं तो उनके बदले में ठीक उनके बराबर का सोना और चाँदी कोष में रखना अनिवार्य होता है।

इन दोनों प्रणालियों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि आनुपातिक-कोष प्रणाली (Proportional Reserve Method) के अन्तर्गत नोट चलाने से देश की नोट-व्यवस्था में लचक (Elasticity) आती है परन्तु इसमें मुद्रा-स्फीति होने का भय बना रहता है। Fixed Fiduciary Method के अनुसार नोट चलाने से देश की नोट-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति होने का तो कोई भय नहीं रहता परन्तु इसके द्वारा नोट-व्यवस्था में लोच नहीं आती। इस प्रणाली के अनुसार थोड़े-से नोटों को छोड़ कर (जो सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जाते हैं) और जितने भी नोट चलाए जाते हैं उनके बदले में संचित-कोष में उनके बराबर मूल्य का सोना-चाँदी रखना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रणाली में नोटों की संख्या बढ़ाने से पहिले उतने-ही मूल्य का सोना-चाँदी इकट्ठा करना पड़ता है और तभी उनके बल पर नोट चलाए जा सकते हैं। परन्तु आनुपातिक-कोष प्रणाली में नोटों की संख्या सोने-चाँदी के कोष पर इतनी बुरी तरह से आश्रित नहीं होती। इसमें तो सोने की कम-से-कम निर्धारित मात्रा (जिसे सरकार निश्चित कर दे) रखनी पड़ती है बाकी सब नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते हैं। अतः इस प्रणाली में स्थाई विश्वसनीय प्रणाली (Fixed Fiduciary Method) की अपेक्षा नोट चलाने में अधिक लचक लाई जा सकती है।

Fixed Fiduciary System प्रायः उन देशों को ठीक है जिनके पास सोना-चाँदी अधिक हो या जिनका व्यापार उन्नति पर हो। आनुपातिक-कोष प्रणाली को अन्य सभी प्रकार के देश अपना सकते हैं। संसार के अधिकांश देशों में इसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाए जाते हैं। इङ्गलैण्ड में Fixed Fiduciary Method काम में लाया जाता है तथा अमेरिका और भारत में Proportional Reserve Method के अनुसार नोट चलाए जाते हैं।

(१२) नोट चलाने की आदर्श प्रणाली
[Ideal Method of Note Issue]

नोट चलाने की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का अध्ययन करने के बाद भी यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें से कौन-सी प्रणाली सबसे अच्छी है और कौन सबसे बुरी। प्रत्येक प्रणाली में कोई-न-कोई विशेषता मिलती है। यदि किसी प्रणाली के अनुसार नोट चलाने में देश की नोट-व्यवस्था में लोच (Elasticity) आती है तो किसी में मुद्रा-स्फीति होने का भय नहीं रहता। वास्तव में तो आदर्श नोट प्रणाली वही कही जा सकती है जिसके अन्तर्गत देश में सोने के कोष को ध्यान में रखते हुए लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार तथा मुद्रा-मण्डी की परिस्थितियों को देखकर नोट चलाए जा सकें और उनकी मात्रा बिना किसी प्रतिबन्ध के आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सके। सिद्धान्ततः नोट चलाने का काम देश की केन्द्रीय-बैंक का होना चाहिए। केन्द्रीय-बैंक को नोट चलाने का अधिकार क़ानून के द्वारा मिल जाना चाहिए जिससे वह परिस्थितियों के अनुसार देश की नोट-व्यवस्था का प्रबन्ध और संचालन कर सके। हाँ, देश की सरकार को भी इस विषय में केन्द्रीय-बैंक पर कुछ नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे केन्द्रीय-बैंक केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही नोटों की मात्रा न घटा-बढ़ा सके। क़ानून के द्वारा केन्द्रीय-बैंक पर नोट-सम्बन्धी दो प्रतिबन्ध अवश्य होने चाहिएँ—(१) कि केन्द्रीय-बैंक सरकार की आज्ञा के बिना निश्चित राशि से अधिक मूल्य के नोट न छाप सके। नोट छापने की महत्तम-सीमा (Maximum Limit) क़ानून के द्वारा निश्चित कर देनी चाहिए। (२) कि केन्द्रीय-बैंक नोट चलाने से पहिले चलाए जाने वाले नोटों के बदले में कम-से-कम निर्धारित मूल्य का कुछ सोना अपने संचित-कोष में अवश्य रक्खे। इससे देश की नोट-व्यवस्था मज़बूत और उपयोगी बन सकेगी, जनता का केन्द्रीय-बैंक की नोट-व्यवस्था में विश्वास बढ़ेगा तथा किसी संकट काल में भी इससे लाभ उठाया जा सकेगा।

नोट चलाने की आदर्श प्रणाली वही कही जा सकती है जिसमें नीचे लिखे गुण-धर्म पाए जाएँ।

(१) लोच (Elasticity), (२) मितव्ययता (Economy), (३) परिवर्तन-शीलता (Convertibility), (४) चलनाधिक्य से बचाव (Security and safety against over-issue).

(१३) भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था

भारत की नोट-व्यवस्था में समय समय पर अनेक परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहिले नोट चलाने का काम बंगाल, बम्बई तथा मद्रास की तीनों प्रेसीडेन्सी-बैंकों को मिला हुआ था। परन्तु १८६१ के एक्ट के अनुसार सरकार ने इसे अपने अधिकार में ले लिया। अब सरकार Fixed Fiduciary System के अनुसार नोट चलाने लगी। इसके अन्तर्गत ४ करोड़ रुपये के मूल्य के नोट सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा

सकते थे और यदि इनसे अधिक नोट चलाने होते थे तो सरकार को अपने पास चाँदी का एक संचित कोष रखना पड़ता था। धीरे-धीरे सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जाने वाले नोटों का मूल्य बढ़ाया जाता रहा और प्रथम महायुद्ध-काल में कुल मिला कर १२० करोड़ रुपये के मूल्य के नोट केवल सिक्यूरिटीज़ के बल पर चलाए जा सकते थे। यद्यपि उस समय नोट चलाने का काम सरकार का-ही था परन्तु फिर-भी यह प्रयत्न किया जाता रहा कि नोट चलाने का काम किसी बैंक को सौंप दिया जाए। उस समय देश में कोई केन्द्रीय-बैंक नहीं था इसलिए इम्पीरियल बैंक को-ही इस काम को सौंपने का एक बार छोटा सा प्रयोग किया गया था। १६२४ में इम्पीरियल बैंक को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह १२ करोड़ रुपये तक के मूल्य के नोट देशी-बिलों के बल पर चला सकता था। इस प्रकार हमारे देश में नोट चलाने के अनेक सिद्धान्तों और अनेक प्रणालियों का प्रयोग किया जाता रहा है।

१६३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया बनने पर नोट चलाने का काम इसी बैंक को सौंप दिया गया। अब यही बैंक नोट चलाती है। इस समय हमारे देश में परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलते हैं। २, ५, १०, १०० रुपये के नोट परिवर्तनीय-नोट हैं जिनके बदले में रिज़र्व-बैंक सिक्के देने का वचन देती है। एक रुपये के नोट अपरिवर्तनीय-नोट हैं जिन्हें भारत सरकार का वित्त-विभाग छाप कर चलाता है। एक रुपये के नोट द्वितीय युद्ध-काल में चलाए गए थे और आज भी चलते हैं। इन नोटों के बदले में सरकार सिक्के देने का वचन नहीं देती। प्रतिनिधि रूप कागज़ के नोट (Representative Paper Money) हमारे देश में नहीं चलते।

नोट चलाने के लिए अब हमारे देश में "बैंकिंग-सिद्धान्त" का पालन किया जाता है जिसके अनुसार देश के केन्द्रीय-बैंक (रिज़र्व बैंक ऑफ् इण्डिया) को नोट चलाने का एकाधिकार मिला हुआ है। रिज़र्व-बैंक बनने से पहिले देश में "करेंसी-सिद्धान्त" का पालन किया जाता था जिसके अनुसार सरकार नोट चलाती थी।

नोट छापकर चलाने में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया "आनुपातिक-कोष प्रणाली" का पालन करती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से पहिले रिज़र्व बैंक को नोटों के बदले में एक संचित-कोष रखना पड़ता है जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी-सिक्यूरिटीज़, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटीज़ रक्खी जाती हैं। चलाए जाने वाले नोटों के कुल मूल्य के बदले में संचित-कोष का कम-से-कम ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी-सिक्यूरिटीज़ में रखना पड़ता है। इसमें भी हर समय कम-से-कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। संचित-कोष का शेष ६०% भाग रुपया, रुपये की सिक्यूरिटीज़ या अन्य देशी-बिलों में रक्खा जा सकता है। १६४६ से पहिले जब अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष नहीं बना था रिज़र्व-बैंक को अपने संचित-कोष में स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटीज़ रखकर उनके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष का

सदस्य हो गया तो रिज़र्व बैंक केवल स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज़ के बल पर ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष के सब सदस्य-देशों की सिक्यूरिटीज़ के बल पर नोट चला सकता है। अब हमारे देश की नोट-व्यवस्था काफ़ी लोचदार है। चूँकि १ जनवरी १९४९ से रिज़र्व बैंक आफ़ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हो गया है इसलिए रिज़र्व बैंक द्वारा नोट चलाने का उत्तरदायित्व अब सरकार का भी उत्तरदायित्व बन गया है।

संक्षेप में भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं:—

(१) परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोटों का चलन,

(२) नोट चलाने के बैंकिंग सिद्धान्त का पालन,

(३) 'आनुपातिक-कोष' प्रणाली के अनुसार नोटों का प्रचलन।

इन तीनों विशेषताओं के कारण देश की नोट-व्यवस्था में लोच आ गई है।

(१४) भारतीय नोट-व्यवस्था के दोष

राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) ने हमारी नोट-व्यवस्था में कुछ दोष बताए थे जो यहाँ दिए जाते हैं:—

(१) देश की मुद्रा-पद्धति में एक निश्चित मूल्य मापक का सर्वथा अभाव रहा है। नोट किसी भी निश्चित धातु से परिवर्तनीय नहीं है किन्तु असीमित रूप में क़ानूनी-मुद्रा बने हुए हैं। यह हमारे देश की मुद्रा-पद्धति की एक बड़ी-भारी कमी है।

(२) नोटों की परिवर्तनशीलता रखने के लिए हम या तो स्टर्लिङ्ग पर निर्भर हैं या स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज़ पर आश्रित हैं जिससे पौण्ड के अवमूल्यन का प्रभाव हमारी नोट-व्यवस्था पर पड़ता रहता है। [अब हमारी मुद्रा स्टर्लिङ्ग पर आश्रित नहीं रही है।]

(३) लोच का अभाव है अर्थात् व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुकूल मुद्रा का प्रसार व संकुचन नहीं हो पाता। जो रुपये के सिक्के चलाए जाते हैं उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर वे रिज़र्व बैंक में लौटकर नहीं आ पाते। परिणाम यह होता है कि सरलता से स्वतः ही मुद्रा-संकुचन नहीं हो पाता। जहाँ तक मुद्रा-प्रसार का सम्बन्ध है वह भी आवश्यकतानुसार नहीं हो सकता। हाँ, मुद्रा-स्फ़ीति अवश्य हो जाती है जो आज भी प्रत्यक्ष है।

(४) नोटों का इतना अधिक प्रसार होने पर भी पाश्चात्य देशों की तरह हमारे यहाँ 'डिपोज़िट करेंसी' (Deposit Currency) का उतना उपयोग नहीं हो रहा है। इसका एक-मात्र कारण यह है कि हमारी कुल राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तथा मुद्रा-पद्धति में पारस्परिक सामञ्जस्य नहीं है।

(५) हमारी अर्थ-व्यवस्था को नोटों का पूरा-पूरा लाभ तब-तक नहीं मिल सकता जब-तक कि नोटों के आधार में रक्खे जाने वाले कोष का भली-भाँति संचालन नहीं होता।

इन दोषों को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे नोटों तथा अन्य मुद्राओं में इस प्रकार समन्वय हो जिससे उसका हमारी अर्थ-व्यवस्था से घनिष्ट सम्बन्ध होकर हमारी आर्थिक उन्नति हो सके। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हमारी मुद्रा का स्टर्लिङ्ग या स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज़ से कोई सीधा सम्बन्ध न रहे। वैसे तो अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष बनने के बाद हमारी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य निश्चित हो गया है फिर भी पत्र-मुद्रा-कोष में स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज़ का परिमाण ही अधिक है। इससे हमारी मुद्रा कोई विशेष प्रभावशाली नहीं रही है।

प्रश्न

१. नोट कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक की विशेषताएँ लिखिए और समझाइए कि किसी देश की मुद्रा पद्धति में नोट चलाने का क्या महत्त्व होता है?

२. अपरिवर्तनीय नोटों से आप क्या समझते हैं? अपरिवर्तनीय नोटों के अवगुणों का वर्णन कीजिए।

३. अपरिवर्तनीय नोटों के चलनाधिक्य (Over-issue) के कौन-कौन से लक्षण हैं? समझाकर सोदाहरण लिखिए।

४. नोटों के गुण और दोषों पर प्रकाश डालते हुए समझाइए कि आधुनिक युग में पत्र-मुद्रा का चलन एक नितान्त आवश्यकता है।

५. नोट संचालन के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। किसी देश में सरकार की अपेक्षा देश के केन्द्रीय-बैंक के हाथ में नोट चलाने का अधिकार होना क्यों अधिक हितकर है?

६. क्या कागज़ के नोट देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं? इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

७. नोट चलाने की आधुनिक प्रणालियों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए। हमारे देश में कौन-सी प्रणाली अपनाई जाती है?

८. भारत की वर्तमान नोट-व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए। हमारी नोट-व्यवस्था में कौन कौन से मुख्य दोष बताए जाते हैं?

९. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:—

(अ) प्रतिनिधि रूप नोट,

(ब) अपरिवर्तनीय सिक्के,

(स) आनुपातिक कोष प्रणाली,

(द) नोट-व्यवस्था की लोच।

१०. निम्नलिखित में भेद समझाइए:—

(अ) बैंकिंग सिद्धान्त और करेंसी सिद्धान्त।

(ब) आनुपातिक कोष प्रणाली तथा स्थाई विश्वसनीय प्रणाली।

(स) अपरिवर्तनीय नोट तथा अपरिवर्तनीय सिक्के।

११. "कागज़ के नोट आकाश-मार्ग की भाँति होते हैं जिनकी नीचे की भूमि को भी काम में लाया जा सकता है और उस पर अन्न आदि पैदा करके मनुष्य की दूसरी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।"

आदम स्मिथ के इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ५

साख एवं साख-मुद्रा

(१) "साख" का अर्थ

पिछले दो अध्यायों में बताया जा चुका है कि सिक्के और नोट विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। प्रायः इन्हीं के द्वारा हम वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय करते हैं। सिक्के या नोट लेकर हम वस्तुओं और सेवाओं को बेच देते हैं तथा वही सिक्के और नोट देकर हम वस्तुएँ और सेवाएँ ख़रीद सकते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम बिना कुछ दिए हुए वस्तुएँ ख़रीद लेते हैं और बिना सिक्के या नोट लेकर वस्तुएँ बेच भी देते हैं। मान लो, हमें गेहूँ की आवश्यकता है। हम किसी परिचित दूकानदार से गेहूँ ले आएँ और उस समय हम उसे न सिक्के दें, न नोट दें और न कोई और वस्तु चुकाएँ। तो क्या इसका यह अर्थ है कि हम दूकान-दार को इस गेहूँ के बदले में कभी कुछ न देंगे या वह दूकानदार अपने गेहूँ के बदले में हमसे कभी भी कुछ न माँगेगा? ऐसी बात नहीं है। यद्यपि हमने गेहूँ लेते समय दूकानदार को कुछ भी नहीं दिया परन्तु थोड़े-बहुत समय के बाद हमें उस गेहूँ का मूल्य सिक्के या नोट देकर दूकानदार को चुकाना पड़ेगा। तो अब यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि दूकानदार ने गेहूँ देते समय-ही हमसे उसका मूल्य नहीं लिया और हमने उसी समय उसको उसका मूल्य नहीं चुकाया? इसका कारण है हमारा और दूकानदार का पारस्परिक विश्वास। दूकानदार को यह विश्वास होता है कि हम भविष्य में उसे गेहूँ का मूल्य चुका देंगे तथा हमें यह विश्वास होता है कि दूकानदार अपने गेहूँ के बदले में भविष्य में भुगतान लेने के लिए राज़ी हो जाएगा। यही 'विश्वास' जिसके बल पर हम आज वस्तुएँ लेकर भविष्य में उनका भुगतान करें 'साख' कहलाती है। साख के लेन-देन में आज वस्तुएँ लेकर उनके मूल्य का भुगतान भविष्य के लिए थगित कर दिया जाता है। अतः साख का अर्थ "भुगतान स्थगित करना" (Post-ponement of Payment) भी हो सकता है। साख या उधार का लेन-देन केवल उन व्यक्तियों के बीच में हो सकता है जिनको आपस में एक-दूसरे का विश्वास हो। कोई-भी दो अनजान व्यक्ति साख का लेन-देन नहीं कर सकते। साख स्वीकृत करने से पहले साख स्वीकृत करने वाला इस बात को भली-भाँति देख लेता है कि जिस व्यक्ति को साख स्वीकृत की जा रही है वह भविष्य में मूल्य चुकाने के योग्य है या नहीं, वह उसका भुगतान कर देगा या नहीं और भुगतान करने की उसकी नीयत है या नहीं। ये सब बातें साख पर राशि या वस्तुएँ लेने वाले के व्यक्ति-गत चरित्र या उसकी जायदाद आदि को देखकर मालूम हो सकती हैं। इसी प्रकार

दो देशों में साख का लेन-देन साख पर लेने वाले देश की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। जिस देश की आर्थिक स्थिति ठोस होती है उसको बड़ी से बड़ी वस्तु तथा अधिक से अधिक माल साख पर मिल सकता है। यही बात उद्योगों के साथ में होती है। जिन उद्योगों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है उन्हें सरलता से साख स्वीकार कर दी जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है साख का मूल आधार 'विश्वास' है और साख पर राशि या वस्तुएँ लेना किसी व्यक्ति का बड़ा भारी गुण है।

(२) साख का लेन-देन

साख का लेन-देन यह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को वस्तुएँ, सेवाएँ या राशि इस विश्वास पर दे कि लेने वाला उनका मूल्य चुकाने के योग्य है और भविष्य में निश्चित तिथि पर चुका भी देगा। साख के लेन-देन में "समय" का भी विशेष स्थान है। साख स्वीकृत करने वाले व्यक्ति को यह देखना पड़ता है कि साख पर दी जाने वाली वस्तुओं या सेवाओं का भुगतान कितने समय के पश्चात् हो सकेगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति दूसरे को एक महीने की अवधि पर साख स्वीकार कर दे परन्तु दो महीने की अवधि पर न करे। इसका अर्थ यह नहीं कि उन दोनों के बीच आपस का विश्वास बिलकुल नहीं है। हाँ, इसका अर्थ यह होता है कि एक महीने तक के साख के लेन-देन में उन दोनों का आपस का विश्वास है परन्तु इससे अधिक समय तक के लेन-देन में उनका पारस्परिक विश्वास नहीं है।

नक़द लेन-देन में वस्तुएँ देकर बदले में नोट या सिक्के ले लिए जाते हैं या सिक्के या नोट देकर वस्तुएँ ख़रीद ली जाती हैं। अतः नक़द लेन-देन में वस्तुओं के बदले में तुरन्त हाथों-हाथ उसी समय उनका मूल्य चुका दिया जाता है। परन्तु साख या उधार के लेन-देन में आज वस्तुएँ देकर भविष्य में उनका मूल्य चुकाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि साख के लेन-देन में वस्तुओं और मुद्रा की विनिमय-क्रिया उसी समय पूर्ण नहीं होती वरन् निश्चित समय के बाद भविष्य में पूरी होती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि साख का लेन-देन विनिमय की क्रिया को पूर्ण होने से भविष्य में स्थगित करने की एक व्यवस्था होती है। गाइड नामक मुद्रा-शास्त्री ने स्पष्ट लिखा है कि यदि वस्तु और मुद्रा के विनिमय में "समय" का पुट लगा दें तो साख का लेन-देन बन जाता है। साख के लेन-देन में ऐसी व्यवस्था होती है जिसके अन्तर्गत वर्तमान वस्तुओं का मूल्य भविष्य में मुद्रा से चुकाया जाता है। अतः साख के लेन-देन में तीन बातें निहित होती हैं—(१) विश्वास (२) समय (३) मूल्य का भुगतान। साख के प्रत्येक लेन-देन में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, आपस का विश्वास होना आवश्यक है। विश्वास के बल पर ही वर्तमान वस्तुओं का मूल्य भविष्य में चुकाना सम्भव हो सकता है। साख के लेन-देन में मूल्य का भुगतान भी एक बहुत-बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई व्यक्ति आज साख पर वस्तुएँ ले

और एक महीने के पश्चात् उनका मूल्य चुकाने का वचन दे परन्तु एक महीने के बाद निश्चित तिथि पर भुगतान लेने वाला मूल्य माफ़ कर दे तो उसे साख का लेन-देन नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें मूल्य का भुगतान नहीं हुआ है। इस लेन-देन को भेंट या Gift कहना उचित होगा। इसी प्रकार यदि देनदार निश्चित तिथि पर यह मूल्य न चुकाए और मूल्य भुगतान करने से बिलकुल इन्कार कर दे तो भी उसे साख का लेन-देन नहीं कहना चाहिए। साख के लेन-देन का अर्थ है मूल्य के भुगतान को स्थगित करना (Postponement of Payment)। हमारे इन दोनों उदाहरणों में भुगतान चुकाने का काम स्थगित नहीं होता वरन् मूल्य या तो बिलकुल माफ़ कर दिया जाता है या डूब जाता है। इसलिए ऐसे लेन-देन को साख के सौदे (Credit Transactions) नहीं कह सकते। साख का लेन-देन तभी कहा जाता है जब उसमें तीनों बातें हों—विश्वास, समय, मूल्य का भुगतान।

साख का लेन-देन दो प्रकार से हो सकता है—(१) वस्तुओं व सेवाओं का क्रय-विक्रय जिनका मूल्य भविष्य में चुकाया जाए। (२) राशि का लेन-देन जो निश्चित समय के बाद चुकाई जाए।

(३) साख-मुद्रा [Credit Money]

पहले बताया जा चुका है कि साख-व्यवस्था का मूल आधार 'विश्वास' है। इसी विश्वास के बल पर आज की ली हुई राशि या वस्तुओं का भुगतान भविष्य में किया जा सकता है। साख पर वस्तुएँ लेने वाले को भविष्य में निश्चित तिथि पर उनका मूल्य चुकाने का वचन देना पड़ता है। यह वचन दो प्रकार से दिया जा सकता है (१) मौखिक (२) लिखित। मौखिक वचन के अनुसार साख पर राशि या वस्तुएँ लेने वाला केवल मुँह-ज़बानी कहकर ही यह विश्वास दिला देता है कि वह निश्चित समय पर उन वस्तुओं का मूल्य चुका देगा या वह राशि लौटा देगा। साख के छोटे-छोटे लेन-देन प्रायः मौखिक विश्वास के आधार पर ही तय हो जाते हैं। परन्तु बड़ी-बड़ी राशि के लेन-देन में केवल मौखिक वचन देकर विश्वास दिलाने से ही काम नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति में वस्तुओं या राशि के बदले में लिखित वचन भी देना पड़ता है। लिखित वचन एक प्रकार का प्रमाण पत्र होता है जिसमें साख पर ली हुई वस्तुओं का मूल्य तथा उसको भविष्य में चुकाने का वचन लिखा रहता है। इन प्रमाण-पत्रों या लिखित वचनों को ही साख-पत्र या साख-मुद्रा कहते हैं। ये साख पत्र हैं विनिमय-बिल (Bill of Exchange) प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes) बैंक-ड्राफ्ट, चेक आदि।

(४) 'साखपत्र' या 'साख-मुद्रा' ?

अभी-अभी बताया गया है कि साख के लेन-देन में वस्तु या राशि लेते समय उनके बदले में प्रायः साख-पत्र देने पड़ते हैं। अतः साख-पत्र साख के लेन-देन में एक प्रकार से विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। चेक या विनिमय-बिल देकर बदले में वस्तुएँ ख़रीद ली जाती हैं। तो प्रश्न होता है कि क्या हम इन साख-पत्रों को

सिक्कों या नोटों की तरह "मुद्रा" कह सकते हैं ? मुद्रा की परिभाषा समझाते समय अध्याय दो में बताया गया था कि मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय का माध्यम हो तथा जिसको वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में देश के सभी लोग स्वीकार करें। सिक्के और नोट विनिमय के ऐसे ही माध्यम हैं जिनको देश में रहने वाले सभी लोग बिना किसी हिचकिचाहट के लेन-देन में स्वीकार करते हैं। चेक, विनिमय-बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों में यह बात नहीं होती। इनको देश के सभी लोग सिक्कों या नोटों की तरह स्वीकार नहीं करते वरन् वे ही लोग लेने-देते हैं जो एक-दूसरे को भली-भाँति जानते हों और जिनमें आपस का विश्वास हो। अतः साख-पत्रों का चलन सिक्कों और नोटों की अपेक्षा बहुत सीमित होता है।

सिक्कों और नोटों को लोग इकट्ठा करके संचित करते हैं परन्तु चेक, बिल, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि को कोई भी संचित नहीं करता। इसलिए ये साख-पत्र सिक्कों और नोटों की भाँति "मुद्रा" नहीं कहे जा सकते।

सिक्कों का अपना कुछ धातु-मूल्य होता है तथा सरकार उन्हें क़ानूनी मुद्रा घोषित करती है। इसी प्रकार नोटों के चलने में क़ानून का बल होता है। परन्तु चेक, बिल आदि साख-पत्रों का न तो सिक्कों की भाँति कोई अपना मूल्य होता है और न सरकार उन्हें क़ानूनी-मुद्रा घोषित करती है। ये केवल आपस की साख और विश्वास के बल पर ही लिए-दिए जाते हैं। अतः इन साख-पत्रों को सिक्कों और नोटों की तरह "मुद्रा" नहीं कहा जा सकता। हाँ, उन्हें "साख मुद्रा" कहना कोई अनुचित बात नहीं होगी। जॉन्सन नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि सिक्कों और नोटों की तरह चेक, बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्रों में भी कुछ गुण होने आवश्यक हैं:—

(१) कि वे सरलता से पहिचाने जा सकें।

(२) कि लोग उनको जालसाज़ी करके सरलता पूर्वक न बना सकें।

(३) वे आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न राशि के हों।

जॉन्सन के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि चेक, बिल आदि साख-पत्र भी मुद्रा के रूप कहे जा सकते हैं। चूँकि ये लेनदार और देनदार की आपस की साख पर चलते हैं और इनका क्षेत्र बहुत सीमित होता है इसलिए इन्हें "साख-मुद्रा" कहना ही उपयुक्त होगा। बहुत से लेखकों ने इन्हें 'साख-पत्र' या 'साख-पुर्ज़े' कहा है परन्तु हम उन्हें साख-मुद्रा (Credit Money) कहेंगे।

साख-मुद्रा के भेद—साख-मुद्रा अनेक प्रकार की होती हैं। यहाँ हम केवल चेक, विनिमय-बिल, प्रतिज्ञा-पत्र, बैंक-ड्राफ्ट तथा हुण्डी आदि के विषय में अध्ययन करेंगे।

चेक—चेक एक लिखित पत्र है जो किसी बैंक विशेष के ऊपर लिखा जाता है तथा जिसको लिखने वाला बैंक को आदेश देता है कि वह माँगने पर इसके बदले में इसमें लिखी हुई राशि का भुगतान कर दे। इसमें तीन विशेषताएँ होती हैं—(१) यह विनिमय-बिलों के समान होता है। (२) यह किसी बैंक पर लिखा जाता है।

(३) इसका भुगतान बैंक को किसी भी समय माँगने पर चुकाना पड़ता है। चेक लिखने वाला चेक पर अपने हस्ताक्षर कर देता है तथा बैंक के नाम एक आदेश देता है कि वह बिना किसी शर्त के उसका भुगतान माँगने पर चुका दे। चेक की परिभाषा में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं—

(१) यह एक आज्ञा-पत्र होता है।

(२) यह लिखित होता है।

(३) यह बिना किसी शर्त के होता है।

(४) यह किसी बैंक के नाम लिखा जाता है।

(५) इसमें लिखी हुई राशि निश्चित होती है। बैंक उस राशि से कम या अधिक नहीं चुका सकता।

(६) जिसको भुगतान दिया जाता है उसका नाम इसमें लिखा होता है अथवा उसका भुगतान इस व्यक्ति के आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को करना पड़ता है।

(७) इसका भुगतान माँगने पर करना पड़ता है।

(८) इसमें इसके लिखने वाले के हस्ताक्षर होते हैं।

चेक दो प्रकार का होता है (१) आर्डर-चेक (२) वाहक-चेक। आर्डर-चेक वह होता है जिसका भुगतान चेक में लिखे हुए व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को ही मिल सकता है। वाहक-चेक का भुगतान चेक ले जाने वाले किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है। जहाँ तक चेक की सुरक्षा का प्रश्न है आर्डर-चेक वाहक-चेक की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहता है क्योंकि इसका भुगतान किसी भी व्यक्ति को नहीं किया जा सकता।

चेक को रेखाङ्कित भी बनाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए चेक के ऊपर दो आड़ी समानान्तर रेखाएँ खींच दी जातीं हैं। चेक के रेखाङ्कन का अर्थ यह होता है कि इसका भुगतान बैंक किसी व्यक्ति को नहीं कर सकता वरन् इसका भुगतान किसी बैंक के मार्फ़त ही लिया जा सकता है। रेखाङ्कित करने से चेक की सुरक्षा बढ़ जाती है। जिस चेक को रेखाङ्कित नहीं किया जाता उसे खुला हुआ चेक (Open Cheque) कहते हैं। चेक का भुगतान करने से पहले बैंक को यह देख लेना चाहिए कि उसमें लिखे हुए हस्ताक्षर ठीक हैं या नहीं। इसके लिए बैंक को चेक लिखने वाले के हस्ताक्षर अपने पास रखने पड़ते हैं और जब कोई चेक आता है तो उसके हस्ताक्षर इन हस्ताक्षरों से मिला लिए जाते हैं।

विनिमय-बिल—यह एक ऐसा लिखित-पत्र है जिसके ऊपर इसे लिखने वाले के हस्ताक्षर रहते हैं। इसको लिखने वाला व्यक्ति इसमें लिखे हुए किसी व्यक्ति को आदेश देता है कि वह तीसरे किसी व्यक्ति को (जिसका नाम भी उसमें लिखा होता है) इसमें लिखित राशि का भुगतान कर दे। बिल देशी (Inland) और विदेशी (Foreign) दो प्रकार के होते हैं। देशी-बिल वह होता है जिसका भुगतान उसी देश

में हो जिसमें वह लिखा गया है तथा जिसका लिखने वाला तथा भुगतान पाने वाला भी उसी देश में रहता हो। विदेशी-बिल एक देश में लिखा जाता है तथा उसका भुगतान दूसरे देश में होता है। बिल लिखते समय नीचे लिखी बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है—(१) तारीख़ (२) अवधि (३) राशि (४) पाने वाले का नाम (५) स्टाम्प (टिकट)।

बिल साधारणत: तीन-महीने की अवधि के होते हैं अर्थात् बिल लिखने की तारीख़ से ९० दिन के बाद उनका भुगतान करना होता है। कभी-कभी दर्शनी-बिल (Demand Bill) भी लिखे जाते हैं—इनका भुगतान माँगने पर-ही करना पड़ता है। दर्शनी-बिलों को छोड़कर सब बिलों पर राशि के अनुपात से टिकट (Revenue Stamp) लगाना पड़ता है। मुद्दती-बिल वे होते हैं जिनका भुगतान निश्चित अवधि के बाद करना पड़ता है। प्रत्येक मुद्दती-बिल पर भुगतान चुकाने वाले व्यक्ति को स्वीकृति देनी पड़ती है। इसका आशय यह है कि वह बिल की शर्तों को देखकर स्वीकार करता है कि उन शर्तों के अनुसार वह उसका भुगतान चुका देगा। अवधि के पश्चात् निश्चित-तिथि पर यदि बिल का भुगतान नहीं किया जाय तो "बिल का अनादरण" कहलाता है। बिल का अनादरण होने पर बिल लिखने वाले व्यक्ति को उसके भुगतान का दायित्व लेना पड़ता है।

प्रतिज्ञा-पत्र—यह एक ऐसा लिखित-पत्र है जिसको लिखने वाला व्यक्ति उसमें लिखित किसी व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को उसमें लिखी हुई राशि देने का वचन देता है।

हुण्डियाँ—हुण्डी प्रायः विनिमय-बिल की भांति ही होती है। इस पर भी बिल की भांति टिकट (Revenue Stamp) लगानी पड़ती है। अन्तर केवल यह होता है कि उसका लिखने का ढङ्ग कुछ और होता है। हुण्डियाँ दो प्रकार की होतीं हैं—(१) मुद्दती (२) दर्शनी। मुद्दती-हुण्डी का भुगतान अवधि समाप्त होने के बाद चुकाया जाता है परन्तु दर्शनी-हुण्डी का भुगतान देखते-ही करना होता है। हुण्डियां देखनहार, नाम जोग अथवा फ़रमान जोग, धनी जोग शाह जोग तथा जोख़मी होती हैं।

देखनहार हुण्डी वह है जिसका भुगतान उसे दिखाने वाले व्यक्ति को किया जाता है। नाम जोग अथवा फ़रमान जोग हुण्डी वह है जिसका भुगतान पाने वाले धनी के आदेशानुसार किया जाता है। धनी जोग हुण्डी वह होती है जिसका भुगतान केवल पाने वाले धनी को-ही हो सकता है। शाह जोग हुण्डी वह होती है जिसका भुगतान केवल किसी शाह को ही हो सकता है। 'शाह' वह व्यक्ति, फ़र्म या कम्पनी होती है जिसका नाम उस सूची में लिखा हो जो स्थानीय व्यापार-बोर्ड द्वारा प्रकाशित होती हो। आजकल किसी बैंक को भी 'शाह' मान लिया जाता है।

बैंक ड्राफ्ट—यह एक प्रकार का दर्शनी-बिल होता है जिसे एक बैंक अपनी शाखा पर या अन्य किसी आढ़तिया-बैंक पर लिख कर आदेश करता है कि

वह अमुक व्यक्ति को (जिसका नाम उसमें लिखा होता है) लिखित राशि का भुगतान कर दे । राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में इनका बहुत प्रयोग होने लगा है।

साख-पत्र (Letter of Credit)—साख-पत्र दो प्रकार के होते हैं: (१) गश्ती (Circular) साख-पत्र (२) चालू (Running) साख-पत्र।

गश्ती साख-पत्र—जब किसी व्यक्ति को भ्रमण करते समय अनेक स्थानों पर राशि की आवश्यकता होती है तो वह किसी बैंक से गश्ती साख-पत्र ले लेता है। इस पत्र में एक राशि दी हुई होती है। इस राशि की सीमा तक साख-पत्र रखने वाला व्यक्ति अनेक स्थानों से राशि उधार ले सकता है। मान लो, मुझको अमेरिका जाना है और वहां घूमने के लिए स्थान-स्थान पर मुझे राशि की आवश्यकता होगी। मान लो, मुझे १० हज़ार डालरों की आवश्यकता होगी तो मैं १० हज़ार डालर का एक गश्ती साख-पत्र किसी बैंक से ले लूंगा और जहां-जहां आवश्यकता होगी उसे दिखाकर उस बैंक की शाखा या किसी आढ़तिया बैंक से राशि ले लिया करूँगा। राशि देने वाला बैंक जितनी राशि मुझे देगा उसे उस पत्र पर लिख देगा जिससे कुल राशि निश्चित रक़म से अधिक न हो जाय।

चालू साख-पत्र—इस साख-पत्र में एक निश्चित रकम लिखी होती है। साख-पत्र रखने वाला व्यक्ति उतनी राशि उस बैंक से (जो साख-पत्र देता है) ले सकता है। जब वह उस राशि का भुगतान चुका दे तो फिर उतनी-ही राशि तक उधार ले सकता है। इस प्रकार साख-पत्र चालू बना रहता है।

इन साख-पत्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे पत्र और होते हैं जिन्हें साख या विश्वास के बल पर लिया-दिया जाता है। इनका विस्तृत विवरण लेखक की "बैंकिंग के सिद्धान्त" नामक पुस्तक में दिया गया है।

(५) साख-संस्थाएँ

ऊपर दिए गए साख-मुद्राओं (चेक, बिलों आदि) का चलन और प्रचार साख-संस्थाओं पर निर्भर होता है। साख-संस्थाओं में बैंक, इन्शोरेन्स कम्पनी, समाशोधन-गृह (Clearing House) सम्मिलित हैं। जब तक देश में बैंकों की संख्या नहीं बढ़ती तब तक साख का लेन-देन नहीं बढ़ सकता। बैंक ही साख-मुद्रा का चलन बढ़ाते हैं, बैंक ही राशि जमा करके साख पर उधार देते हैं तथा बैंक ही नोट-व्यवस्था को संगठित करती हैं। बिना बैंकों के किसी भी देश की साख-व्यवस्था ठोस और उन्नत नहीं बन सकती। साख-संस्थाओं (बैंकों) का विस्तृत वर्णन लेखक की "भारतीय बैंकिंग का विकास" नामक पुस्तक में दिया गया है।

(६) साख का महत्व

(१) वर्तमान समाज में साख का बहुत महत्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार एव उपभोग सभी क्षेत्रों में साख का लेन-देन अनिवार्य बन गया है। आजकल

तो साख का लेन-देन 'वाणिज्य का जीवन' तथा 'आधुनिक व्यापार का मूल-आधार' समझा जाता है। बिना साख और साख के लेन-देन के आजकल का विशाल उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता था। आजकल तो प्रत्येक व्यक्ति साख पर राशि या वस्तुएँ लेकर उत्पादन बढ़ाता है। साख के लेन-देन के कारण वही व्यक्ति लेनदार है और वही देनदार भी है। इस प्रकार उत्पादन की पेचीदा गाड़ी आगे बढ़ रही है। यही नहीं, उपभोग में भी साख का महत्व बढ़ता जा रहा है। अधिकांश लोग आज साख पर वस्तुएँ लेकर अपना जीवन-यापन करते हैं। आवश्यकता की वस्तुएँ, आराम और विलास की वस्तुएँ सभी साख पर ली जाती हैं। कठिनाई के समय साख पर राशि या वस्तुएँ लेकर मनुष्य अपने संकट को पार करने लगा है। सम्पत्ति उत्पादन करने की वर्तमान पेचीदा पद्धति आज साख के लेन-देन से ही सम्भव हुई।

(२) साख के द्वारा वह मनुष्य जो अपनी सम्पत्ति और साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग नहीं कर सकता, अपने साधनों को दूसरे लोगों को देकर अधिक से-अधिक लाभ उठा सकता है। इस प्रकार साधनों का महत्तम उपयोग होता है तथा देश की सम्पत्ति में भी वृद्धि होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति और साधन होते हैं परन्तु वे उनका उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे लोग ऐसे होते हैं जिनके पास सम्पत्ति उत्पादन करने की कला होती है परन्तु साधन नहीं होते। साख के द्वारा इन दोनों प्रकार के लोगों को लाभ मिल सकता है।

(३) साख के द्वारा ही आज व्यापार इतनी उन्नति कर सका। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ साख के कारण जनता में हिस्से (Shares) बेचकर पूंजी इकट्ठी करती हैं जिससे देश की सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता मिलती है। साख के कारण ही लोग अपनी २ राशि बैंकों में जमा करते तथा बैंक भी लोगों को राशि उधार देतीं हैं।

(४) साख-संस्थाओं (बैंक आदि) के द्वारा देशवासी बचत करना सीखते हैं जिससे देश की पूंजी बढ़ती है।

(५) साख के द्वारा साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का प्रचार बढ़ता है। साख-मुद्रा के कारण सिक्कों और नोटों की बचत होती है। सिक्कों की बचत होने से सोने, चाँदी तथा अन्य धातुओं की बचत होती है। इस बचत को देश के अन्य उत्पादन के कामों में लगाकर देश की सम्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। साख-मुद्रा के कारण बड़ी-बड़ी राशि के भुगतान लेने-देने में तथा दूर-दूर राशि भेजने में सुविधा रहती है। इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बड़ी सरलता से भुगताए जा सकते हैं। साख-मुद्रा ने सिक्कों और नोटों के चलन को बहुत-कम कर दिया है।

(६) साख से क़ीमतों की घट-बढ़ भी संतुलित हो जाती है। जब कभी समाज में मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है तो बैंक साख के रूप में उसे बढ़ा देते हैं और जब उसकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती तब वे उसे समेट लेते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के भावों में स्थिरता बनी रहती है।

(७) साख के द्वारा ही भीम-काय उत्पादन के बड़े बड़े कारख़ाने चल रहे हैं जिनमें देश की मानवीय एवं प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक उपयोग होता है। साख के द्वारा श्रम और पूंजी की निपुणता तथा कुशलता बढ़ाई जा सकती है। एक समय था जबकि लोग आपस में एक-दूसरे की वस्तुओं का अदल-बदल किया करते थे। उस समय उनको वस्तु विनिमय (Barter) में बहुत कठिनाई होती थी। 'मुद्रा' के प्रयोग ने विनिमय की उन कठिनाइयों को दूर कर दिया और लेन-देन में समय की भी बचत की। परन्तु आज 'साख के लेन-देन' ने इस सुविधा को और भी अधिक बढ़ा दिया है। एक मुद्राशास्त्री ने लिखा है कि सबसे पहिले 'वस्तु-विनिमय' रूपी रेंगती हुई 'नाव' थी जो केवल पानी पर चलती थी, इसके बाद 'मुद्रा' रूपी तेज़ दौड़ने वाली 'मोटर' आई जो व्यापार रूपी सड़कों पर बड़ी तेज़ी से चलने लगी और आज 'साख' रूपी 'बिजली की रेल' है जो मोटरों से भी अधिक तेज़ दौड़ती है। साख के द्वारा लेन-देन का काम बहुत सरल हो गया है। जॉन्सन ने तो यहाँ तक लिखा है कि साख के लेन-देन आधुनिक व्यापार-जगत् के बड़े महत्त्वपूर्ण सन्देश-वाहक यन्त्र के समान हैं। यदि आज टेलीग्राम और टेलीफ़ोन के तारों को तोड़ दिया जाय तो आधुनिक व्यापार-जगत् को इतनी कठिनाई नहीं होगी जितनी साख के लेन-देन तोड़ने से हो जायगी। एक वाक्य में, साख "वाणिज्य की आत्मा", "मौद्रिक व्यवस्था का मूल-आधार" तथा "सभ्यता का प्रतीक" है।

(७) साख के दोष

संसार में प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक अच्छा और दूसरा बुरा। प्रकृति के इसी सिद्धान्त के अनुसार साख के लाभ भी हैं और दोष भी। साख से मिलने वाले लाभों पर 'साख के महत्त्व' के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। यहां साख के दोषों पर प्रकाश डालेंगे।

(१ साख के द्वारा मनुष्य फ़ज़ूल-ख़र्च करने लगता है। मनोविज्ञान से यह बात सत्य है कि मनुष्य अपने परिश्रम से पैदा की हुई सम्पत्ति को बड़ी योग्यता-पूर्वक तथा बड़े सोच-विचार के पश्चात् व्यय करता है परन्तु दूसरे की सम्पत्ति का उसकी दृष्टि में उतना महत्त्व नहीं होता। अतः वह साख पर ली हुई राशि को निर्दयता के साथ व्यय करता जाता है जिससे थोड़े समय के बाद ही वह फ़ज़ूल-ख़र्ची बन जाता है।

(२) ठीक यही बात उत्पादन के विषय में भी लागू होती है। व्यापारी लोग साख पर राशि लेकर व्यापार करते रहते हैं। धीरे-धीरे वह उधार बढ़ाते जाते हैं और फिर आवश्यकता से अधिक पूंजी व्यापार में लगा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूंजी के अनुपात में व्यापार से मिलने वाला लाभ कम हो जाता है और व्यापार को बन्द करने तक की नौबत आ जाती है। इससे केवल उसी व्यापारी को हानि नहीं होती वरन् व्यापार के अन्य क्षेत्रों में भी इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता

है। उसका व्यापार समाप्त होने से साख स्वीकृत करने वालों की राशि डूब जाती है तथा साख का लेन-देन करने वाले दूसरे लोग भी सचेत हो जाते हैं और साख का लेन-देन कम हो जाता है।

(३) बहुत से अयोग्य और चालाक लोग उधार राशि लेकर व्यापार आरम्भ करते हैं और थोड़े समय चलाने के बाद फिर रुपया खा जाते हैं और व्यापार बन्द कर देते हैं। इससे उनको तो कोई हानि नहीं होती परन्तु दूसरे लोगों का रुपया डूब जाता है तथा व्यापार भी संकट-ग्रस्त बन जाता है; आपस की साख कम होने लगती है और उत्पादन का क्रम बिगड़ जाता है।

(४) साख पर ली हुई राशि से सट्टे बाज़ी बढ़ जाती है। अधिक सट्टे बाज़ी बढ़ने से व्यापार और उद्योगों को हानि होने की सम्भावना बढ़ जाती है। कभी-कभी तो इसके कारण बड़े-बड़े व्यापार नष्ट हो जाते हैं।

(५) कभी-कभी देश में साख-मुद्रा की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और इतनी बढ़ जाती है कि अन्य मुद्राओं की अपेक्षा उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। इससे लोगों का विश्वास टूटने का भय रहता है। यदि किसी समय देश का केन्द्रीय बैंक आवश्यकता से अधिक नोट चला दे तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाने का भय रहता है। उस समय फिर मुद्रा संकुचन (Contraction of Money) करने की आवश्यकता पड़ जाती है। मुद्रा संकुचन करने से व्यापार तथा उद्योगों को और भी अधिक हानि होने का भय रहता है।

(६) साख-व्यवस्था के कारण ही देश की अधिकांश सम्पत्ति कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में इकट्ठी हो जाती है। ये लोग पूंजीपति बन बैठते हैं। ये पूंजीपति अन्य साधनहीन लोगों का शोषण करने लगते हैं तथा वस्तुओं के भाव जैसा चाहें घटा-बढ़ा देते हैं। इससे जन-साधारण को संकट पैदा हो सकता है।

(७) जब सरकार को साख पर जनता से जन-ऋण (Public Debt) के रूप में अधिक रुपया मिलने लगता है तो सरकार भी फ़ज़ूल-ख़र्च करके रुपया नष्ट करने लगती है।

साख और साख के लेन-देन के दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि देश की केन्द्रीय-सरकार देश की साख-व्यवस्था पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रक्खे। साख पर नियन्त्रण करने का काम देश की केन्द्रीय बैंक को सौंप देना चाहिए। साख का उचित नियन्त्रण होने से ही देश को साख के लाभ मिल सकते हैं।

(८) साख और पूंजी

[क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है ?]

[क्या साख पूंजी का सृजन करती है ?]

साख और पूंजी के विषय में बड़ा मतभेद चलता आया है। कुछ लोगों का विश्वास है कि जिस प्रकार भूमि (Land) और श्रम (Labour) सम्पत्ति-उत्पादन के

साधन हैं और सम्पत्ति पैदा करने में सहायता करते हैं उसी प्रकार साख भी सम्पत्ति-उत्पादन का एक साधन है। मैक्लौड नामक मुद्राशास्त्री का मत है कि साख पूंजी का सृजन करती है तथा साख-मुद्रा वास्तविक सम्पत्ति और सच्ची पूंजी है। उन्होंने अपनी एलीमैण्ट ऑफ़ बैंकिंग नामक पुस्तक के अध्याय ४ में लिखा है "कि मुद्रा और साख दोनों ही पूंजी हैं। व्यापारिक-साख एक प्रकार से व्यापारिक-पूंजी होती है।" * परन्तु उनका यह विश्वास भ्रमात्मक प्रतीत होता है। साख सम्पत्ति-उत्पादन का 'साधन' (Factor) नहीं है, वरन् सम्पत्ति-उत्पादन का एक तरीक़ा है, पद्धति है, प्रणाली (Method) है। जिस प्रकार श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विनिमय (Exchange) सम्पत्ति पैदा करने या बनाने के तरीक़े हैं उसी प्रकार साख भी सम्पत्ति बनाने या पैदा करने की एक शैली या तरीक़ा है। साख के लेन-देन में एक व्यक्ति की निठल्ली सम्पत्ति (राशि, वस्तुएं आदि) दूसरे ऐसे व्यक्ति के पास हस्तान्तरित (Transfer) कर दी जाती है जो उसका अधिक उपयोग कर सके। अतः सम्पत्ति का केवल हस्तान्तरण (Transfer) करना ही साख के लेन-देन का मूल उद्देश्य होता है। लेकिन 'हस्तान्तरण करना' ही सम्पत्ति 'बनाना' या 'पैदा करना' नहीं कहा जा सकता। अतः साख के द्वारा सम्पत्ति या पूंजी का सृजन नहीं हो सकता। जॉन स्टूअर्ट मिल नामक एक विख्यात अर्थशास्त्री ने कहा है कि "साख का लेन-देन एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्ति दूसरे की बनाई हुई सम्पत्ति का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।" † अतः इस कथन के अनुसार स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति तो साख के लेन-देन से पहिले ही बनी होती है। साख का लेन-देन उस सम्पत्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान पर या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर हस्तान्तरित कर देता है। मान लो, एक व्यक्ति ने दूसरे को १००० रुपये साख पर दिए और उससे बदले में एक प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory note) लिखाकर ले लिया। अब १००० रुपये एक व्यक्तिक्त के पास हो गए और दूसरे के पास १००० रुपये का एक प्रतिज्ञा-पत्र आगया। कुल मिलाकर दो-हज़ार रुपये की संख्या तो बन गई परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि १००० रुपये से २००० रुपये की सम्पत्ति बन गई। देश में तो केवल १००० रुपये ही रहे। हां, जिसके पास प्रतिज्ञा-पत्र आ गया उसको उसके बदले में १००० रुपये मिलने की सुविधा अवश्य आ गई। अतः वह प्रतिज्ञा-पत्र पूंजी नहीं कहला सकता वरन् वह तो एक ऐसा साधन हो गया जिसके द्वारा वह व्यक्ति उसके बदले में १००० रुपये किसी से ला सकता है। अगर इस प्रकार प्रतिज्ञा-पत्र भी सम्पत्ति बन जाया करते तब तो प्रत्येक व्यक्ति अपना

---

*"Both Money and credit are capital." "Mercantile credit is mercantile capital".—Macleod—Elements of Banking—Chapter IV.

† New capital is not created by mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of borrower.—Mill.

अपना मकान अपने पड़ोसियों को साख पर दे दिया करता और बदले में प्रतिज्ञा-पत्र लेकर अपनी सम्पत्ति दुगुनी कर लिया करता। जिस प्रकार शीशे में परछाईं देखकर यह कहना कि एक आदमी से दो आदमी बन गए बेवकूफी की बात होगी उसी प्रकार यह समझना कि १००० रुपये साख पर देकर २००० रुपये हो गए बेवकूफी और बुद्धिहीनता की बात है। रिकार्डो नामक एक विचारक अर्थशास्त्री ने कहा है कि "साख के द्वारा पूंजी का सृजन नहीं होता, साख के लेन-देन से तो केवल यह बात निश्चित होती है कि पैदा की हुई सम्पत्ति का उपयोग कौन करेगा।" साख के द्वारा सम्पत्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर पहुँच जाती है—उसकी मात्रा में कोई कमी-बेशी नहीं आती। साख के लेन-देन से पूंजी की गतिशीलता (Mobility) और उत्पादन-शक्ति बढ़ती है परन्तु सम्पत्ति की मात्रा में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होती। जिस प्रकार किसी सिपाही को घोड़ा मिल जाने से उसकी गतिशीलता और कार्य कुशलता बढ़ जाती है उसी प्रकार साख के लेन-देन से साख पर लेने वाले की गति और कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। अतः यह समझ लेना चाहिए कि साख के द्वारा सम्पत्ति या पूंजी का सृजन नहीं होता।

हां चूँकि साख के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे की निठल्ली राशि या वस्तुओं को लेकर सम्पत्ति-उत्पादन के काम में लगाता और उसे उत्पादन करने के योग्य बना देता है इसलिए यह माना जा सकता है कि परोक्ष-रूप से साख पूंजी को जन्म देता है परन्तु इस प्रकार भी सम्पत्ति की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। साख परोक्ष रूप से उत्पादन बढ़ाने तथा पूंजी संग्रह करने का एक साधन है। साख के द्वारा पूंजी ऐसे लोगों के पास पहुँचती है जो उसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग कर सकें। इसके द्वारा देश की पूंजी अधिक उपयोगी बन जाती है। समाज और देश की आर्थिक प्रतियोगिता में साख के लेन-देन की बहुत आवश्यकता है क्योंकि इसी के द्वारा उत्पादन की मूल-शक्तियाँ उत्पादन-क्षेत्र में लाई जा सकती हैं।

(९) साख और वस्तुओं के भाव

साख के विषय में इतना जान लेने के पश्चात् एक प्रश्न उठता है कि साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर क्या प्रभाव पड़ता है? हम सभी जानते हैं कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। क्रय-शक्ति बढ़ने से लोग अधिक मात्रा में वस्तुओं की माँग करने लगते हैं और वस्तुओं की माँग बढ़ने से उनके भाव चढ़ जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि सामान्यतः मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से वस्तुओं के भाव भी बढ़ जाते हैं। परन्तु मुद्रा की पूर्ति के घटने-बढ़ने का सही-सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। सिक्कों अथवा नोटों की मात्रा तो सरलता से ज्ञात की जा सकती है और यह मालूम किया जा सकता है किसी भी समय सिक्कों या नोटों की मात्रा घट रही है या बढ़ रही है। परन्तु साख-मुद्रा की पूर्ति के घटने-बढ़ने का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि साख-मुद्रा भी विनिमय

माध्यम का काम करती है अतः इनके द्वारा वस्तुओं के भावों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इस विषय में मुद्राशास्त्रियों की दो विचारधाराएं हैं :—

(१) कुछ मुद्राशास्त्रियों का मत है कि साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन लोगों का विश्वास है कि साख-मुद्रा (चेक) बिल आदि) के द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है वह एक दूसरे को संतुलित (Balance) कर देता है और इसलिए मुद्रा की पूर्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः साख के लेन-देन से वस्तुओं के मूल्य-स्तर में कोई फेर-बदल नहीं होती।

(२) दूसरा मत पहिले मत के बिलकुल विपरीत है। इस मत को मानने वाले मुद्राशास्त्रियों का कहना है कि साख के लेन-देन से वस्तुओं की माँग तो बढ़ती ही है और वस्तुओं की माँग बढ़ने का अर्थ यह है कि मुद्रा की माँग बढ़ती है। अतः साख के लेन-देन से वस्तुओं के मूल्य-स्तर पर भी कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। कुछ आधुनिक मुद्राशास्त्रियों ने साख-नियन्त्रण (Credit Control) करके क्रय-शक्ति को वश में करने के नए सिद्धान्तों की खोज की है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि साख और वस्तुओं के भावों का परस्पर कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

कुछ मुद्राशास्त्रियों का मत है कि जो राशि या वस्तुऐं उत्पादन के काम के लिए साख पर दी जाती हैं उनका वस्तुओं के भावों रर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इस प्रकार एक तरफ तो साख पर दी गई क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और दूसरी ओर इसकी सहायता से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है जिससे बाज़ार में वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने लगती है। इस प्रकार क्रय-शक्ति की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई वस्तुओं की माँग और वस्तुओं के उत्पादन के कारण पैदा हुई उनकी पूर्ति दोनों में संतुलन पैदा हो जाता है जिससे वस्तुओं के भावों पर साख का कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाता। यह विचार धारा भी दोष रहित नहीं जान पड़ती क्योंकि इसके अन्तर्गत वस्तुओं की माँग और उनकी पूर्ति के मेल का सही सही अनुमान लगाना असम्भव है। सामान्यतः साख पर दी जाने वाली अधिकांश राशि इस शर्त पर दी जाती है कि साख पर लेने वाला व्यक्ति उसकी सहायता से वस्तुऐं उत्पन्न करे और उन्हें बेचने के पश्चात् राशि का भुगतान चुका दे। साख पर राशि देते समय तो बाज़ार में उसके समकक्ष (Corresponding) कोई भी माल नहीं होता क्योंकि साख पर राशि लेकर माल बनाने में कुछ समय तो लगता ही है। अतः इस बीच में जो क्रय शक्ति बढ़ जाती है उससे वस्तुओं के भावों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

यदि यह भी मान लें कि उस समय वस्तुओं के भावों पर साख पर दी हुई राशि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो यह हो सकता है कि साख पर राशि लेकर वस्तुऐं उत्पादन करने वाला माँग का ग़लत अनुमान लगाकर माँग से अधिक वस्तुऐं

उत्पन्न कर दे। ऐसी परिस्थिति में बाज़ार में वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग की अपेक्षा अधिक हो जायगी और उनके भाव गिरने लगेंगे। कभी यह भी हो सकता है कि वस्तुएँ उत्पन्न करने वाला माँग का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर वस्तुएँ पैदा करे परन्तु जब तक वे वस्तुएँ बन कर बाज़ार में आवें तब तक सम्भव है किसी कारण से (फ़ैशन आदि बदलने के कारण) उनकी माँग बदल जाय। ऐसी परिस्थिति में साख पर दी हुई राशि के कारण पैदा हुई वस्तुओं की माँग तथा उस राशि की सहायता से पैदा की गई वस्तुओं के कारण बढ़ी हुई उनकी पूर्ति में विषमता पैदा हो जायगी और मूल्य-स्तर में भी फेर-बदल होगी। अतः यह कहना कि उत्पादन के कामों के लिए साख पर दी-हुई राशि का वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ग़लत है। साख का प्रभाव साख-मुद्रा के द्वारा वस्तुओं के भावों पर अवश्य पड़ता है। साख चाहे उत्पादक के काम के लिए दी जाय और चाहे उपभोग के लिए स्वीकृत की जाय उसका वस्तुओं के भावों पर प्रभाव पड़ता ही है। यही कारण है कि आज-कल मूल्य-स्तर को वश में करने के लिए साख-नियन्त्रण करने की आवश्यकता होने लगी है और साख-नियन्त्रण किसी भी देश की केन्द्रीय बैंक की मुख्य क्रिया मानी जाती है।

(१०) साख की घटत-बढ़त

साख की घटत-बढ़त के अनेक कारण होते हैं जिनमें से कुछ यहाँ दिए जाते हैं :—

(१) व्यापारिक तथा औद्योगिक परिस्थितियों का साख के घटने-बढ़ने पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब व्यापार उन्नति पर होता है तो साख के लेन देन की मात्रा बढ़ जाती है और जब व्यापार शिथिल पड़ जाता है तो लेन-देन भी कम हो जाता है।

(२) जन-विश्वास तथा जन-रक्षा का भी साख पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी समय ऐसी घटना हो जाय जिससे जनता का विश्वास टूटने लगे तो साख का लेन-देन कम हो जायगा। युद्ध, भूचाल आदि कारणों से लोगों में पारस्परिक विश्वास की कमी हो जाती है जिससे साख के लेन-देन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

(३) देश की आन्तरिक राजनैतिक हलचल तथा विदेशी परिस्थितियों का भी साख पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश के अन्दर राजनैतिक आतंक पैदा हो जाय तो लोगों का लेन-देन सुरक्षित नहीं रहता। बैंक तथा अन्य साख-संस्थाएँ साख का लेन-देन कम कर देती हैं।

(४) सट्टेबाज़ी के कारण साख के लेन देन में कमी बेशी होती रहती है। जब साख का लेन-देन कम हो जाता है तो बहुत-से सट्टे-बाज़ नष्ट-प्रायः

हो जाते हैं। सट्टे-बाज़ी और साख के लेन-देन का पारस्परिक सम्बन्ध है। एक के घटने-बढ़ने से दूसरे में भी परिवर्तन होने लगते हैं।

(५) देश में प्रचलित मौद्रिक व्यवस्था का भी देश की साख पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि मौद्रिक-व्यवस्था सुदृढ़ और ठोस हुई तो साख के लेन-देन भी बढ़ जाते हैं। यदि बैंकों के पास अच्छी मात्रा में सोना हुआ तो उसके बल पर वे बहुत भारी-भारी राशि साख पर दे सकते हैं। जब मौद्रिक व्यवस्था ठोस होती है तो बैंक भी अपने पास थोड़ा संचित-कोष रखकर अधिकांश राशि साख पर उठा देती हैं। जब मौद्रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त होती है तो लोगों में आपस में अविश्वास और अनिश्चितता पैदा होने लगती है जिससे साख का लेन-देन बहुत कम हो जाता है।

(११) भारत में साख-व्यवस्था

भारत में साख-व्यवस्था इतनी उन्नत नहीं है जितनी अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में पाई जाती है। न तो हमारे देश में बहुत-सी साख-संस्थाएं (बैंक आदि) हैं और न साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का ही अधिक चलन है। देश के कुछ व्यापारिक केन्द्रों में जैसे बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर आदि में साख-संस्थाऐं भी हैं और साख-मुद्रा का भी प्रचार बढ़ गया है। परन्तु देश के आन्तरिक भागों में साख का लेन-देन व साख-मुद्रा का चलन ना के बराबर है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है—वे लोग चेकों, बिलों तथा अन्य साख-मुद्राओं का लिखना तथा उनका प्रयोग करना ही नहीं जानते। दूसरे, यहां के लोग राशि को इकट्ठा करके संचित करने में विश्वास करते हैं—वे न तो आपस में ही उधार लेते-देते हैं और न बैंकों में ही जमा करते हैं। बैंकों ने भी साख-व्यवस्था को उन्नत बनाने का अधिक प्रयास नहीं किया है। जिन बैंकों ने साख के लेन-देन किए भी वे व्यापार की परिस्थिति से धोखा खाकर नष्ट हो गए। हमारे देश में साख उन्नत न होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पिछले वर्षों में हमारे देश की बैंकिंग-व्यवस्था बड़ी अस्त-व्यस्त रही। न तो देश में कोई केन्द्रीय बैंक था जो साख-नियन्त्रण का काम करता और न बैंकिंग कम्पनी क़ानून ही था जो बैंकों पर अंकुश रखता। अब हमारे देश में केन्द्रीय बैंक भी हैं और बैंकिंग क़ानून भी बन गया है। अब केवल एक बात की आवश्यकता है कि लोगों को साक्षर बनाकर उनको साख-मुद्रा का प्रयोग सिखाया जाय तभी देश की साख-व्यवस्था उन्नत बनाई जा सकेगी।

प्रश्न

१. 'साख' से आप क्या समझते हैं ? इसका आधुनिक जगत में क्या महत्व है ? विस्तार पूर्वक समझाइये।

२. 'साख उत्पत्ति का साधन नहीं है वरन् उसकी कार्य-क्षमता बढ़ाता है'। इस कथन की विवेचना कीजिए।

३. साख के लेन-देन से क्या-क्या लाभ और हानियां होती हैं? समझाकर लिखिए।

४. 'साख मुद्रा' किसे कहते हैं? साख-मुद्रा का वर्गीकरण करते हुए प्रत्येक की परिभाषा और लक्षण लिखिए।

५. निम्नलिखित के उत्तर व्याख्या सहित लिखिए :—

(अ) क्या साख सम्पत्ति में वृद्धि करती है?

(ब) क्या साख पूंजी का सृजन करती है?

६. साख के लेन-देन का वस्तुओं के भावों पर क्या प्रभाव पड़ता है? स्पष्ट करके लिखिए।

७. साख की घटत-बढ़त से आप क्या समझते हो? साख के घटने-बढ़ने के क्या कारण होते हैं?

८. 'साख' में कौन-से विशेष तत्व निहित होते हैं? व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति के लिए साख का क्या महत्व है?

९. 'भारत में साख-व्यवस्था' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय ६

मुद्रा के चलन के मूल सिद्धान्त

ग्रेशम का नियम [Gresham's Law]

हम देखते हैं कि धातु-मुद्रा (सिक्के) और पत्र-मुद्रा (नोट) कितनी सरलता और स्वतन्त्रता के साथ देश में चलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हें बे-रोक-टोक और बिना किसी हिचकिचाहट के खुशी-खुशी ले लेता है। परन्तु क्या हमने कभी यह सोचा है कि ऐसा क्यों है? यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मालूम हो जायगा कि मुद्रा, चाहे सिक्के हों और चाहे नोट हों, के चलने के दो मुख्य कारण होते हैं—

(१) क़ानून का बल—देश की सरकार इनको क़ानूनी-मुद्रा घोषित कर देती है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को क़ानून के बल से इन्हें स्वीकार करना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति इन क़ानूनी-मुद्राओं को लेने से इन्कार करता है तो उस पर क़ानून भंग करने के अपराध में मुक़द्दमा चलाया जा सकता है।

(२) आपस का विश्वास—दूसरा मुख्य कारण है आपस का विश्वास। प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास होता है कि वह जिस किसी-भी व्यक्ति को उन्हें देगा वह उनको स्वीकार कर लेगा। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास न रहे कि वह जो सिक्के या नोट ले रहा है उन्हें दूसरा व्यक्ति स्वीकार कर लेगा तो पहिला व्यक्ति भी कभी उन मुद्राओं को स्वीकार नहीं कर सकता। अतः आपस का विश्वास मुद्राओं के स्वतन्त्र-चलन (Circulation) का मुख्य कारण है।

परन्तु कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि कुछ सिक्के या नोट सरलता से स्वीकार कर लिए जाते हैं और ऐसे-ही दूसरे सिक्के या नोट उतनी सरलता से स्वीकार नहीं किए जाते। कुछ सिक्के या नोट बिना किसी हिचकिचाहट के ले लिए जाते हैं तथा कुछ को लेने में लोग आनाकानी करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि एक ही प्रकार के भिन्न-भिन्न सिक्कों या नोटों का चलन (Circulation) लोगों के आपसी विश्वास और स्वीकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। इस बात को समझने के लिए 'ग्रेशम के नियम' (Gresham's Law) का अध्ययन करना आवश्यक है।

(२) ग्रेशम का नियम [Gresham's Law]

सभी जानते हैं कि जब किसी के पास एक-ही धातु के एक से दो सिक्के हों परन्तु उनमें से एक बिलकुल नया हो और दूसरा घिसकर कुछ पुराना या मैला पड़ गया हो तो वह व्यक्ति नए सिक्के को अपने पास रखना चाहता है और अपने भुगतान करने में पुराने सिक्के को देने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार यदि किसी

व्यक्ति के पास एक चाँदी का सिक्का हो और दूसरा कागज़ का नोट हो तो स्वभावतः वह व्यक्ति चाँदी के सिक्के को अपने पास रखता है और नोट में भुगतान करके उसे चलन में डाल देता है। यदि किसी के पास एक बिलकुल नया नोट हो और दूसरा मैला हो तो वह मैले नोट को पहिले चलाने का प्रयत्न करता है और नए नोट को अपने पास रख लेता है। इन उदाहरणों से यह बात सिद्ध होती है कि बुरी या दूषित मुद्राओं को लोग चलाने का प्रयत्न करते हैं और अच्छी या नई मुद्राओं को अपने पास बटोर कर रख लेते हैं। यही ग्रेशम का नियम है। ग्रेशम रानी एलिज़ाबेथ का अर्थसलाहकार था। उसने इस सिद्धान्त को सबसे पहिले नियम-बद्ध किया था। वैसे तो यह बात उसके पता लगाने से पहिले भी थी परन्तु वैज्ञानिक ढङ्ग पर खोज करके नियम के रूप में इस पद्धति को सबसे पहले उन्होंने ही समझाया था। अतः इसे "ग्रेशम का नियम" कहने लगे हैं।

ग्रेशम का नियम यह है कि—"बुरी मुद्रा में अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति होती है" (Bad money tends to drive good money out of circulation.)

(३) 'बुरी' एवं 'अच्छी' मुद्राएँ

बुरी मुद्रा का अर्थ यहां केवल खोटी मुद्रा से ही नहीं है वरन् उस मुद्रा से भी है जो अपने जैसी मुद्राओं की अपेक्षा तोल में कम हो या रूप-रंग और आकृति में अपेक्षाकृत बुरी हो, मैली हो, घिसी हो अथवा कटी-फटी हो। यही नहीं, यदि दो धातुओं की दो प्रकार की मुद्राएँ देश में चलतीं हों और उनकी आपस की विनिमय दर निश्चित हो तो भी बाज़ार-दर पर कम मूल्य की मुद्रा बुरी मुद्रा होगी और उसके अनुपात में अधिक मूल्य की मुद्रा अच्छी मुद्रा कहलाएगी। (ग्रेशम का सिद्धान्त समझने के लिए विद्यार्थियों को बुरी और अच्छी मुद्राओं का अर्थ ली भांति समझ लेना चाहिए।)

(४) ग्रेशम के नियम की विचित्रता

ग्रेशम के नियम में एक बड़ी विचित्रता मालूम होती है। साधारणतः देखा जाता है कि मनुष्य अच्छी वस्तु को काम में लाता है और बुरी वस्तु का बहिष्कार कर देता है। जैसे, लोग अच्छी२ वस्तुएँ खाने के काम में लाते हैं और बुरी या सड़ी-गली वस्तुएँ फेंक देते हैं। अच्छा कपड़ा पहिनने के काम में लाते हैं और फटे-पुराने कपड़े का बहिष्कार कर देते हैं। परन्तु मुद्रा के चलन में यह बात बिलकुल उलटी होती है। बुरी मुद्राओं को लोग काम में लाते हैं और अच्छी मुद्राएँ काम में न लाकर इकट्ठा कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि लोग अच्छी मुद्रा के बदले में अधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए उसे इकट्ठा कर लेते हैं और भुगतान करने के लिए पहिले बुरी मुद्राओं को काम में लाते हैं। लोग समझते हैं कि भुगतान करने के लिए तो अच्छी और बुरी दोनों मुद्राओं का मूल्य समान है परन्तु धातु रूप में बेचने या विदेशों में धातु

बनाकर भेजने में अच्छी मुद्राओं का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक है। अतः बुरी मुद्राओं को भुगतान करने के काम में लाते हैं जिससे वे चलन में आ जातीं हैं और अच्छी मुद्राओं को धातु रूप में बेचने के उद्देश्य से अपने पास रखकर इकट्ठा कर लेते हैं जिससे वे चलन से बाहर निकल जातीं हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि यदि बुरी मुद्रा की मात्रा असीमित हो तो वह अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।* मोटे शब्द मार्शल नामक अर्थशास्त्री ने अपनी ओर से लगाए हैं। मार्शल का कथन है कि यदि बुरी मुद्रा की मात्रा सीमित हुई और अच्छी तथा बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएं मिलकर लोगों की मुद्रा की आवश्यकताओं से कम हुईं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल सकेगी। परन्तु अगर बुरी मुद्रा की मात्रा असीमित हुई तो वही मुद्रा भुगतान करने के काम में आती रहेगी और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जायगी।

(४) ग्रेशम के नियम के तीन रूप

ग्रेशम का नियम मुद्रा के चलन में तीन प्रकार से लागू होता है :—

(१) एक धातुवाद एवं ग्रेशम का नियम (Monometallism)

जब किसी देश में एक धातुवाद (Monometallism) माना जाता हो अर्थात् एक ही धातु के प्रमुख सिक्के चलाए जाते हों तो उनमें से कुछ सिक्के नए और पूरी तोल के होते हैं तथा कुछ पुराने, मैले तथा घिसे हुए होते हैं। इनमें नए और पूरी तोल के सिक्के अच्छी मुद्रा कहलाएंगे तथा पुराने घिसे हुए तथा कम तोल के सिक्के बुरी मुद्रा कहलाएंगे। प्रत्येक व्यक्ति पुराने सिक्कों में भुगतान करेगा और नए सिक्कों को भविष्य के लिए अपने पास संग्रह कर लेगा। इस प्रकार बुरी मुद्रा अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देगी।

हमारे देश में इसी रूप में ग्रेशम का नियम लागू होता है। युद्ध से पहिले ऐसे रुपये चलते थे जिनमें ११ १२ भाग चाँदी का था परन्तु युद्धकाल में इससे कम मात्रा की चाँदी के रुपये चलाए गए। अतः अधिक चाँदी वाले सिक्कों का लोप हो गया और कम चाँदी वाले रुपये चलने लगे क्योंकि अधिक चाँदी वाले रुपयों को लोग गला-गला कर चाँदी के रूप में बेचने लगे।

(२) द्वि धातुवाद एवं ग्रेशम का नियम (Bimetallism)

जब किसी देश में द्वि धातुवाद (Bimetallism) माना जाता हो अर्थात् दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में एक-साथ चलते हों और उनकी आपस की विनिमय-दर भी निश्चित हो तब भी ग्रेशम का नियम लागू होता है। बाज़ार में उन दोनों सिक्कों की धातुओं का भाव समय-समय पर बदलता

---

* An inferior currency, if not limited in amount drives the superior currency out of circulation.—Marshall.

रहेगा जिससे उन दोनों सिक्कों का बाज़ारू मूल्य उनकी आपस की निर्धारित विनिमय-दर से भिन्न रहेगा। इस प्रकार वे सिक्के, जिनका बाज़ार में धातु-मूल्य कम हो उन सिक्कों को, जिनका धातु-मूल्य बाज़ार में अधिक हो, चलन से बाहर कर देंगे क्योंकि अधिक मूल्यवाली धातु के सिक्कों को लोग गला-गला कर बेचने लगेंगे।

> उदाहरण:— मान लो, किसी देश में सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्के चलते हैं और उनकी आपस की क़ानूनी विनिमय-दर १ सोने का सिक्का = १६ चाँदी के सिक्के, है। यदि बाज़ार में चाँदी का भाव बढ़ जाय और १ सोने के सिक्के में केवल १५ चाँदी के सिक्के मिलने लगें तो इसका अर्थ यह होगा कि दोनों सिक्कों की क़ानूनी विनिमय-दर और बाज़ारू विनिमय-दर में अन्तर हो गया। ऐसी परिस्थिति में चाँदी के सिक्के का बहु-मूल्यन (Over-valuation) कहा जायगा और सोने के सिक्के का (Under-valuation) या अवमूल्यन कहा जायगा। प्रत्येक व्यक्ति चाँदी के १६ सिक्के देकर सोने का १ सिक्का लेने की बजाय अब चाँदी के १५ सिक्के गला कर बाज़ार से उनकी चाँदी के बदले में सोने का एक सिक्का ख़रीदने लगेगा और इस प्रकार उसे चाँदी के १ सिक्के की बचत हो जायगी। अतः चाँदी के सिक्के गलने लगेंगे और चलन में केवल सोने के सिक्के ही रह जाएंगे। इस प्रकार द्वि-धातुवाद में ग्रेशम का नियम लागू हो जायगा।

इंगलैण्ड में एडवर्ड प्रथम के राज्य-काल में लगभग ऐसा-ही हुआ था। उस समय इंगलैण्ड में सोने के फ्लारिन्स (Florins) तथा चांदी के शिलिंग चलते थे और उनकी क़ानूनी विनिमय-दर १ फ्लारिन = ६ शि० थी। परन्तु बाज़ार में सोने का भाव ऊँचा होने के कारण उन सिक्कों की बाज़ारू विनिमय-दर १ फ्लारिन = ७ शि० हो गई। लोग फ्लोरिन को गला-गला कर धातु के रूप में बेचने लगे और चलन में केवल शिलिंग-ही-शिलिंग रह गए। फ्लोरिन के सिक्के देखने तक को नहीं मिलते थे।

(३) जब किसी देश में सिक्के और नोट दोनों चलने हों और दोनों ही असीमित क़ानूनी-मुद्रा हों तो नोट सिक्कों को चलन से बाहर कर देते हैं। युद्धकाल में जब हमारे देश में रुपये के सिक्के तथा नोट चलने लगे तो धीरे धीरे रुपयों का चलन बन्द होता गया और नोटों की संख्या बढ़ती गई।

ग्रेशम के नियम का तत्व समझने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि अच्छी मुद्रा क्यों और कैसे चलन से बाहर हो जाती है? अच्छी मुद्रा को लोग मुद्रा के रूप में न चला कर अन्य प्रकार से काम में लाते हैं:—

(अ) इनको लोग गला कर धातु के रूप में बेच देते हैं या
(ब) इकट्ठा करके संग्रह करने लगते हैं, और या
(स) विदेशी भुगतान चुकाने में विदेशों को भेज देते हैं।

जब किसी सिक्के का धातु-मूल्य उसके अंकित-मूल्य से अधिक होता है तो लोग उसे गला कर बाज़ार में बेचने लगते हैं और इस प्रकार वह चलन से बाहर हो जाता है।

जब कभी किसी को मुद्रा संचित करना होता है तो स्वभावतः वह अच्छी मुद्राओं का संग्रह करता है और बुरी मुद्राओं को चला देता है। इस प्रकार अच्छी मुद्रा चलन से बाहर चली जाती है।

विदेशी भुगतान चुकाने में भी अच्छे सिक्के ही काम आते हैं। विदेशों में अपनी मुद्राओं का कोई मूल्य नहीं होता—वहां पर अपनी मुद्राएं अंकित मूल्य पर नहीं चल सकतीं जैसे, हमारा एक रुपया इंगलैण्ड में १ रुपये के रूप में नहीं चल सकता। विदेशों में तो अपने सिक्के धातु-मूल्य पर चलते हैं अर्थात् जितनी धातु उन सिक्कों में होती है उसी मूल्य पर वे वहां चल सकते हैं। अतः अच्छे और पूरी तोल के सिक्के कभी-कभी विदेशी भुगतान चुकाने में विदेशों को भी निर्यात कर दिए जाते हैं। इस प्रकार अच्छे सिक्के चलन से निकल जाते हैं।

(६) नियम के अपवाद

अर्थशास्त्र का कोई भी नियम जीवन और समाज की सभी परिस्थितिओं में सत्य नहीं हो सकता। उस नियम के कुछ-न-कुछ अपवाद अवश्य होते हैं। इसी प्रकार ग्रेशम का नियम भी समाज की सभी परिस्थितियों में सत्य नहीं है। हम यहाँ अभी देखेंगे कि किन-किन परिस्थितिओं में बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकती :—

(१) देश में वाणिज्य, उद्योग और व्यवसाय के लेन-देन में मुद्रा की आवश्यकता होती है। यदि किसी समय देश में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राओं की कुल मात्रा इन आवश्यकताओं से कम या इनके ठीक बराबर हुई तो दोनों प्रकार की मुद्राएं चलती रहेंगी और बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकेगी। अतः ऐसी परिस्थिति में ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा।

(२) यदि बुरी मुद्रा इतनी घटिया और ख़राब हो जाय कि लोग उसको लेना पसन्द ही न करें तो वह मुद्रा चलन में नहीं रह सकती। ऐसी परिस्थिति में अच्छी मुद्राओं को ही काम में लाना पड़ेगा। अतः अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी। यदि युद्ध आदि किसी संकट के समय सरकार अपरिवर्तनीय नोट चलाए और लोगों को उन्हें लेने के लिए वाध्य भी करे तो संकट समाप्त होने के बाद लोग उन नोटों को लेना बन्द कर देंगे और अच्छी मुद्रा की माँग होने लगेगी। १९१४ के महायुद्ध काल में इंगलैण्ड ने अपरिवर्तनीय नोट चलाए परन्तु ज्योंही युद्ध का संकट दूर हुआ और परिस्थिति संभली इंगलैण्ड को १९२५ में स्वर्ण प्रमाप स्थापित करना पड़ा।

कहने का तात्पर्य यह है कि बुरी मुद्रा का चलन लोगों की मानसिक प्रवृत्ति तथा उनके रीति-रिवाज पर बहुत निर्भर होता है। यदि किसी समय लोग बुरी मुद्रा को न लेने पर तुल जांय और यह दृढ़ निश्चय करलें कि वे उसे नहीं लेंगे तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं कर सकती। अमेरिका ने गृह युद्ध के संकट काल में अपरिवर्तनीय नोट चलाए। ये नोट देश भर में सब जगह चलते थे परन्तु केलीफोर्निया के निवासियों ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार केलीफोर्निया में इन नोटों के सम्बन्ध में ग्रेशम का नियम लागू नहीं हुआ।

(३) जब अच्छी मुद्राओं का वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) उनके अंकित मूल्य (Face Value) से कम होता है तब भी अच्छी मुद्राएँ चलन से बाहर नहीं होतीं। किसी भी मुद्रा का चलन से बाहर होने का मूल कारण यह है कि उसका मौद्रिक-मूल्य कम होता है और अन्य मूल्य (धातु-मूल्य, वास्तविक मूल्य या अन्य किसी प्रकार से काम में लाने का मूल्य) अधिक होता है जिससे लोग उन्हें मुद्रा के रूप में न चलाकर अन्य कामों में लगा देते हैं। गत-युद्ध काल में हमारे देश में सरकार ने एक पैसे का ऐसा सिक्का चलाया था जिसके बीच में छेद था। ऐसा सिक्का चलाने में सरकार का उद्देश्य यह था कि ताँबे की बचत हो। परन्तु लोग इस पैसे को अन्य कामों में प्रयोग करने लगे, जैसे यह 'वाशर' के काम आने लगा। 'वाशर' उस समय ६ पैसे में आता था। अतः इस सिक्के का मौद्रिक-मूल्य १ पैसा ही रहा और अन्य मूल्य लगभग ६ पैसे हो गया। परिणाम यह हुआ कि लोग इस सिक्के को पैसे के काम न लाकर 'वाशर' के काम लाने लगे और धीरे-धीरे यह चलन से बाहर होने लगा। अन्त में सरकार को यह सिक्का बनाना बन्द ही करना पड़ा। इससे यह बात सिद्ध होती है कि ग्रेशम का नियम तब भी लागू होता है जब किसी मुद्रा का वास्तविक मूल्य उसके मौद्रिक या अंकित मूल्य से अधिक हो।

(४) यदि कभी बुरी मुद्रा का अपमूल्यन शनैः शनैः इस प्रकार किया जाय कि जनता उसे समझ न पाये, तो ऐसी स्थिति में यह नियम उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक अपमूल्यन जनता को समझ में नहीं आता।*

---

* 'Bad money will not drive out good if the depreciation of the currency is so gradual as not to be noticed by the public until it has reached an advanced stage.'

—Thomas

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मालूम होता है कि ग्रेशम का नियम मानव जीवन के एक स्वाभाविक सिद्धान्त का अङ्ग है। स्वाभाविक सिद्धान्त यह है कि प्रतियोगी समाज में प्रत्येक मनुष्य कम-से-कम व्यय करके अधिक-से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यही बात ग्रेशम के नियम में है। जब दो प्रकार की मुद्राएँ चलन में होती हैं तो मनुष्य उन दोनों के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए बुरी मुद्रा को उसके अंकित-मूल्य पर चलाकर तथा अच्छी मुद्रा को उसके वास्तविक मूल्य में काम लाकर अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। ऐसा करने में बुरी मुद्राएँ चलन में आ जाती हैं और अच्छी मुद्राएँ चलन से बाहर निकल जाती हैं।

(७) ग्रेशम का नियम और योरप

प्रथम महायुद्ध काल तथा उसके पश्चात भी योरपीय देशों ने सोने और चाँदी के सिक्कों के साथ-साथ अपरिवर्तनीय काग़ज़ के नोट भी चलाये। परिणाम यह हुआ कि वहां ग्रेशम के नियम के अनुसार सोने और चाँदी के सिक्के चलना बन्द हो गया और केवल कागज़ के नोट ही चलन में रह गए। इङ्गलैण्ड में भी उस समय ट्रेज़री नोट चलाए गए थे। इनके चलते ही सोने के सिक्के चलन से बाहर हो गए और नोट ही चलन में रह गए।

(८) भारत और ग्रेशम का नियम

भारतीय मुद्रा के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारत में समय-समय पर ग्रेशम का नियम लागू होता रहा है। १९ वीं शताब्दी के अन्त में तथा इस शताब्दी के आरम्भ के वर्षों में यहां पर चाँदी के रुपये तथा सोने के सावरेन चलते थे। सोने के सावरेन का अङ्कित मूल्य उसके धातु-मूल्य से अधिक था। परिणाम यह होता था कि सोने के सावरेनों को लोग गला-गला कर आभूषण बनवाने के काम में लाते थे या इकट्ठा करके रख लेते थे और या विदेशी भुगतान चुकाने के लिए विदेशों में निर्यात कर देते थे। इस प्रकार सोने के सावरेन चलन से बाहर हो गए और केवल चाँदी के रुपये या नोट ही चलन में रह गए। बुरी मुद्रा (चाँदी के सिक्कों) ने अच्छी मुद्रा (सावेनों) को चलन से बाहर निकाल दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध काल में भी ग्रेशम का नियम लागू होता रहा। चाँदी की कमी के कारण सरकार ने नए रुपयों में चाँदी की मात्रा कम कर दी जिससे देश में दो प्रकार के रुपये हो गए। अधिक चाँदी की मात्रा वाले रुपयों को लोग इकट्ठा करने लगे या गलाकर बेचने लगे और केवल कम चाँदी की मात्रा वाले रुपये ही चलन में रह गए। उस समय सरकार ने अपरिवर्तनीय कागज़ के नोट (एक रुपये

के नोट) भी चलाए। तब इन नोटों और चाँदी के सिक्कों में प्रतियोगिता होने लगी। चाँदी के सिक्के चलने में कम होते गए और नोटों की मात्रा बढ़ती गई। नोटों ने चाँदी के सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया। पहिले दो प्रकार की चवन्नी और दुवन्नी थीं—एक तो चाँदी की थीं और दूसरी गिलट की। गिलट की चवन्नियों और दुवन्नियों ने चाँदी की चवन्नियों और दुवन्नियों को धीरे-धीरे चलन से बाहर कर दिया। पैसे के सिक्के के साथ भी यह हुआ। छेद वाला पैसा चलन से बाहर होता गया और उसके स्थान पर अन्य पैसे या दो पैसे का अधन्ना चलन में आ गया। एक रुपये के नोट तथा पांच, दस या सौ रुपये के नोटों के साथ भी कुछ कुछ-ऐसा देखने में आता है कि एक रुपये के नोट चलन में बढ़ते गए और अन्य नोट चलन से दूर होते गए। आज चाँदी के रुपये देखने भर को नहीं मिलते और एक रुपये के नोट अनाप-सनाप चलते दिखाई देते हैं। पैसे के सिक्के भी अब उतनी मात्रा में नहीं दिखाई देते क्योंकि उनकी धातु का मूल्य बहुत अधिक हो गया है।

(९) सरकार द्वारा मुद्राओं के चलन पर रोक

देश की सरकार को यह अधिकार होता है कि किसी भी प्रकार की मुद्रा को चलने से बन्द कर दे। ऐसा करने से पहिले सरकार को देश की आवश्यकताओं और देशवासियों के हित का अध्ययन करना आवश्यक होता है। सरकार घिसे हुए सिक्कों व फटे हुए नोटों को वापिस ले लेती है। हमारे देश में इनको रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के कार्यालय पर जाकर वापिस करके उनके बदले में नए सिक्के व नोट लिए जा सकते हैं। सरकार जाली सिक्कों या नोटों को वापिस नहीं लेती। रुपये और अठन्नियाँ उस समय तक घिसे हुए नहीं समझे जाते जब तक कि वे तौल में क़ानून के द्वारा निर्धारित तौल से २% से अधिक कम न हों। दो प्रतिशत तक की कमी स्वाभाविक कमी समझी जाती है परन्तु यदि इससे अधिक कमी हुई तो उन्हें घिसा हुआ मानकर वापिस कर लिया जाता है।

कभी-कभी सरकार देश हित के लिए आवश्यक समझ कर अच्छी मुद्राओं को भी चलने से रोक सकती है। १ मई १९४३ से विक्टोरिया और एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियां सरकार ने चलने से बन्द कर दिए थे और १ नवम्बर १९४३ से जार्ज पंचम और जार्ज छठे के छापे वाले वे रुपये और अठन्नियां जिनमें ११/१२ भाग चाँदी का था चलना बन्द कर दिया गया था। इसी प्रकार १२ जनवरी १९४६ से १०० रुपये से ऊपर वाले ५००, १००० और १०,००० के नोटों का चलना भी बन्द कर दिया गया। इस भांति मुद्रा को चलने से रोकने के लिए सरकार जनता को कुछ समय देती है जिसके अन्दर वे उनको वापिस करके अन्य मुद्रा ले लें। यदि उस अवधि के अन्तर्गत ये मुद्राएं वापिस नहीं होतीं तो वे ग़ैर-क़ानूनी हो जाती हैं और इसके पश्चात् वे मुद्रा के रूप में नहीं चल सकतीं। इस प्रकार जो

सिक्के व नोट चलन से बन्द किए जाते हैं सरकार की इस क्रिया को (Demonetization of Currency) या मुद्रा का 'विमुद्रीकरण' कहते हैं।

प्रश्न

१. 'ग्रेशम का नियम' क्या है? उसके लागू होने की परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

२. "बुरी मुद्रा में अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देने की प्रवृत्ति होती है" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. 'ग्रेशम के नियम' के अपवाद लिखिए। कौन-कौनसी परिस्थितियों में यह नियम लागू नहीं होता? समझाकर लिखिए।

४. द्विधातुवाद में ग्रेशम का मुद्रा-चलन-सिद्धान्त किस प्रकार लागू होता है? उदाहरण सहित समझाइए।

५. भारत में ग्रेशम का नियम कैसे-कैसे लागू होता रहा है? ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते हुए उत्तर लिखिए।

अध्याय ७

मुद्रा का मूल्य (१)

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(Quantity Theory of Money)

(१) 'मुद्रा का मूल्य'

मुद्रा के मूल्य के प्रायः कई अर्थ लगाए जाते हैं। कुछ लोग मुद्रा के प्रयोग के बदले में दिए जाने वाले व्याज को 'मुद्रा का मूल्य' कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह मुद्रा का मूल्य नहीं होता। यह तो उधार दी हुई राशि के बदले में उधार देने वाले को एक प्रकार का पारितोषिक होता है। राशि उधार लेने वाला राशि के बदले में व्याज नहीं देता वरन् राशि के प्रयोग के बदले में व्याज समेत राशि भी लौटा देता है। अतः व्याज को मुद्रा का मूल्य नहीं कह सकते। कुछ लोग अपने देश की मुद्रा के बदले में मिलने वाली विदेशी मुद्राओं को अपनी 'मुद्रा का मूल्य' समझते हैं। मुद्रा-शास्त्र में इसको मुद्रा का मूल्य नहीं कहते वरन् मुद्रा की 'विदेशी विनिमय-दर' कहते हैं जिसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा। 'मुद्रा के मूल्य' से हमारा तात्पर्य मुद्रा की उस विनिमय शक्ति से है जिसके द्वारा मुद्रा के बदले में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। वस्तुएँ और सेवाएँ ख़रीदने की शक्ति को मुद्रा का मूल्य कहते हैं। वस्तुओं और मुद्रा—दोनों के पारस्परिक अनुपात को एक-दूसरे का मूल्य कहा जाता है। जिस प्रकार कपड़ा, गेहूं आदि वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाता है उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य वस्तुओं में व्यक्त किया जाता है। जब यह कहते हैं कि गेहूं का मूल्य पहिले की अपेक्षा बढ़ गया तो साधारणतया इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि उतने ही गेहूं के बदले में अब पहिले की अपेक्षा अधिक मुद्रा माँगी जाने लगी है। इसी प्रकार जब यह कहें कि कि मुद्रा का मूल्य बढ़ गया तो यह समझना चाहिए कि उतनी ही मुद्रा में अब पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ या सेवाएँ मिलने लगीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं के भाव मुद्रा में आँके जाते हैं और मुद्रा का मूल्य वस्तुओं में आँका जाता है। अतः इस प्रकार 'मुद्रा के मूल्य' और 'वस्तुओं के भावों' में कोई-न-कोई पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है। प्रो० सेलिगमन ने लिखा है कि "मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर से जाना जा सकता है। जब-तक मुद्रा के मूल्य में कोई फेर-बदल न हो तब-तक वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।" कभी-कभी ऐसा सम्भव हो सकता है कि किसी वस्तु विशेष का मूल्य किसी विशेष परिस्थिति के कारण घट-

बढ़ जाय और उसके साथ मुद्रा के सामान्य मूल्य में कोई विशेष परिवर्तन न हो, परन्तु अधिकांश वस्तुओं का सामान्य मूल्य-स्तर तब तक नहीं बदल सकता जब-तक कि उसके साथ-ही-साथ मुद्रा के सामान्य मूल्य में भी कोई परिवर्तन न हो। इस प्रकार जो फेर-बदल होती है उन्हें वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर की घटा-बढ़ी भी कह सकते हैं। क्राउथर नामक एक अर्थ-शास्त्री ने लिखा है कि "मुद्रा तथा वस्तुओं के आपस के मूल्य के अनुपात को भाव (Prices) कहते हैं—इन भावों में मुद्रा की घटा-बढ़ी के कारण या वस्तुओं की घटा-बढ़ी के कारण परिवर्तन होते रहते हैं।"

मुद्रा का मूल्य—क्रय शक्ति सदैव एक-सी नहीं रहती। समय-समय पर और स्थान-स्थान पर यह बदलती रहती है। कभी मुद्रा का मूल्य ऊँचा होता है और कभी नीचा हो जाता है और इसी प्रकार मुद्रा के मूल्य में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुऐं ख़रीद पाती है तो कहते हैं कि मुद्रा का मूल्य (क्रय-शक्ति) बढ़ गई है और वस्तुओं के भाव गिर गए हैं। इसके विपरीत जब मुद्रा की एक इकाई पहिले की अपेक्षा कम वस्तुऐं ख़रीद पाती है तो कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य गिर गया है और वस्तुओं के भाव बढ़ गए हैं। जैसे आजकल हमारा रुपया १९३९ की अपेक्षा बहुत कम वस्तुऐं ख़रीद पाता है अतः हम कहते हैं कि भारत में मुद्रा की क्रय-शक्ति बहुत गिर गई है और वस्तुओं के भाव बढ़ गए हैं। प्रश्न यह है कि मुद्रा का मूल्य क्यों घट-बढ़ जाता है? इसी प्रश्न के उत्तर में 'मुद्रा का परिणाम सिद्धान्त' उत्पन्न होता है।

(२) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
[Quantity Theory of Money]

यह भली प्रकार विदित है कि किसी भी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। यदि किसी समय वस्तु की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है तो उसका भाव बढ़ जाता है और यदि उसकी पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक होती है तो भाव गिर जाता है। यही बात मुद्रा के साथ लागू होती है। यदि किसी समय वस्तुओं को मात्रा उतनी ही रहे परन्तु मुद्रा की पूर्ति पहिले की अपेक्षा बढ़ जाय तो ऐसी परिस्थिति में उतनी ही वस्तुओं के लिए अब अधिक मुद्रा दी जाने लगेगी। परिणाम यह होगा कि मुद्रा का मूल्य गिर जायगा और वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाएँगे। उसके विपरीत यदि वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु मुद्रा की पूर्ति पहिले से कम हो जाय तो ऐसी परिस्थिति में उतनी ही वस्तुओं के लिए अब कम मुद्रा दी जाने लगेगी। परिणाम यह होगा कि एक मुद्रा पहिले की अपेक्षा अब अधिक वस्तुएँ ख़रीदने लगेगी। अतः मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा और वस्तुओं के भाव नीचे हो जाएँगे।

उदाहरण—मान लो, दस वस्तुऐं हैं और उनको ख़रीदने के लिए १० ही रुपये हैं। यदि सभी वस्तुऐं बिकने के लिए बाज़ार में आवें, यदि उनका एक-ही बार

क्रय-विक्रय हो और यदि सभी रुपये केवल एक-ही बार खर्च किए जांय तो एक वस्तु का औसत मूल्य एक रुपया होगा। अब यदि वस्तुएँ उतनी ही रहें परन्तु रुपये २० हो जांय तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य २ रुपये होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि रुपये की क्रय-शक्ति अब आधी हो गई। इसके विपरीत यदि वस्तुएं उतनी ही रहें परन्तु चलन में रुपये केवल ५ रह जांय तो एक रुपये में दो वस्तुएं मिलेंगी। इसका अर्थ यह होगा कि रुपये की क्रय-शक्ति अब दुगुनी हो गई।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "यदि मुद्रा का परिमाण (मात्रा) बढ़ जाय परन्तु उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे तो मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि मुद्रा का परिमाण (मात्रा) कम हो जाय परन्तु उससे विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम न हो तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं।" संक्षेप में यही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है। प्रो० मिल ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"यदि अन्य परिस्थितियाँ जैसी-की-तैसी ही बनी रहें, तो जिस अनुपात में मुद्रा का परिमाण घटता-बढ़ता है ठीक उसके विपरीत उसी अनुपात में मुद्रा का मूल्य क्रमशः बढ़ता-घटता है। मुद्रा की जितनी मात्रा बढ़ती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य कम हो जाता है और मुद्रा की जितनी मात्रा घटती है ठीक उसके विपरीत अनुपात में उसका मूल्य बढ़ जाता है।"

इस सिद्धान्त में एक बात समझने की यह है कि यदि अन्य परिस्थितियां जैसी-की-तैसी बनी रहें, तो चालू मुद्रा की मात्रा में घटा-बढ़ी होने से वस्तुओं के भावों में भी उसके अनुकूल उसी दिशा में परिवर्तन होता है। जैसे, यदि मुद्रा की मात्रा बढ़े तो वस्तुओं के भाव भी बढ़ जाएँगे और यदि मुद्रा की मात्रा घट जाय तो वस्तुओं के भाव भी कम हो जायँगे। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने से वस्तुओं के भाव कम हो जाते हैं परन्तु यह निश्चित नहीं कि यह घटा-बढ़ी किस अनुपात में होती है। यदि वस्तुओं की पूर्ति पहिले की अपेक्षा दुगनी हो जाय तो यह आवश्यक नहीं है कि वस्तुओं के भाव आधे रह जांय। मुद्रा के साथ यह बात नहीं होती। मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य में घटा-बढ़ी एक निश्चित अनुपात में होती है। यदि चलन में मुद्रा की मात्रा पहिले की अपेक्षा दुगनी कर दी जाय तो जैसी-की-तैसी परिस्थितियों में मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा और वस्तुओं के भाव दुगने हो जाएँगे। इसी प्रकार यदि चलन में मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाय तो उन्हीं परिस्थितियों में मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा और वस्तुओं के भाव आधे रह जायँगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में विपरीत सम्बन्ध होता है।"

(३) जैसी-की-तैसी परिस्थितियाँ

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की परिभाषा देते समय बताया गया है कि यह सिद्धान्त तभी लागू होता है जब अन्य परिस्थितियाँ जैसी-की-तैसी बनी रहें। अन्य परिस्थितियों से हमारा अर्थ यह है :—

(१) कि मुद्रा के चलन की गति में कोई परिवर्तन न हो।

(२) देश में उधार लेने-देने की प्रथा न हो।

(३) वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-बदल न हो।

(४) बिक्री को आई हुई सब वस्तुएँ मुद्रा के बदले में बिकें, उनका आपस में एक-दूसरे से अदल-बदल न हो।

(५) वस्तुओं के उत्पादन, देश की जन-संख्या तथा प्रति-व्यक्ति-उत्पादन की मात्रा में कोई परिवर्तन न हो।

परिमाण सिद्धान्त की सत्यता के लिए यह आवश्यक है कि अन्य परिस्थितियाँ (जैसा कि ऊपर बताया गया है) जैसी-की-तैसी बनी रहें। यदि मुद्रा के चलन की गति में कोई फेर-बदल हुई तो मुद्रा की पूर्ति पर उसका प्रभाव पड़ेगा और तब सम्भव है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू न हो। इसी प्रकार यदि देश में उधार लेने-देने की प्रथा हो, या वस्तुओं का आपस में एक-दूसरे से अदल-बदल होता हो अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय की गति में कोई फेर-बदल हुई तो सम्भव है मुद्रा की मात्रा बढ़ने से वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव न पड़े। यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ने के साथ वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ता गया या जन-संख्या बढ़ती गई तो भी मुद्रा की पूर्ति का उसके मूल्य पर या वस्तुओं के भावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इन परिस्थितियों में परिमाण सिद्धान्त झूठा साबित हो जायगा। इसलिए यदि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को सच्चा बनाना है तो आवश्यक है कि उक्त परिस्थितियाँ जैसी-की-तैसी बनी रहें। परन्तु वर्तमान काल में जब समाज और देश की परिस्थितियां नई-नई करवटें ले रहीं हैं और मानव प्राणी का स्वभाव भी बदल रहा है ऊपर लिखी अन्य परिस्थितियों का जैसे-का-तैसा बना रहना असम्भव है।

(४) सिद्धान्त का नया रूप

इन बातों को ध्यान में रख कर मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के प्रारम्भिक रूप में भी कुछ परिवर्तन कर दिए गए हैं। सिद्धान्त का वर्तमान रूप यह है कि यदि चालू मुद्रा के परिमाण और उसकी चलन की गति में कोई परिवर्तन होता है तो वस्तुओं का औसत मूल्य भी सामान्यतः उसके साथ-साथ ठीक उसी दिशा में और उसी अनुपात में बदलने लगता है। यदि मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन होता है तो वस्तुओं का मूल्य सामान्यतः उसकी विपरीत दिशा में और विपरीत अनुपात में बदलने लगता है। इस परिभाषा में "सामान्यतः" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धान्त सामान्य परिस्थितियों में सामान्यतः लागू

होता है। यदि कोई असाधारण परिस्थिति बीच में आ जाती है, जैसे जन-संख्या बढ़ जाय या उत्पादन बढ़ जाय इत्यादि, तो यह सिद्धान्त यथावत् लागू नहीं होता।

(५) मुद्रा की माँग और पूर्ति

सिद्धान्त की नई परिभाषा में मुद्रा की माँग और पूर्ति को वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने का मूल आधार माना गया है। अतः 'मुद्रा की माँग' और 'मुद्रा की पूर्ति' का अर्थ भली-भांति समझ लेना चाहिए।

(अ) मुद्रा की माँग:—सभी जानते हैं कि मुद्रा की आवश्यकता वस्तुएँ या सेवाएँ ख़रीदने के लिए होती है। अस्तु, जब वस्तुएँ या सेवाएँ बिकने के लिए बाज़ार में आती हैं तभी उनको ख़रीदने के लिए मुद्रा की माँग बन जाती है। ज्यों-ज्यों वस्तुएँ और सेवाएँ बिक्री के लिए बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों मुद्रा की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार 'मुद्रा की माँग' का तात्पर्य मुद्रा (सिक्के, नोट, साख-मुद्रा) से होने वाले क्रय-विक्रय के लेन-देन से होता है। अर्थात् मुद्रा की सहायता से वस्तुओं और सेवाओं की जितनी ख़रीद-बेच होती है वह सब मुद्रा की माँग कहलाती है। संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि मुद्रा की माँग बिक्री को आई हुई वस्तुओं में निहित होती है। यदि किसी समय बिकने को आई हुई वस्तुओं की मात्रा पहिले की अपेक्षा बढ़ जाती है तो उन्हें ख़रीदने के लिए पहिले से अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है और तब कहते हैं कि मुद्रा की माँग बढ़ गई। इसी प्रकार जब बिकने को आई हुई वस्तुओं की मात्रा किसी समय पहिले की अपेक्षा कम हो जाती है तो कहते हैं कि मुद्रा की माँग पहिले की अपेक्षा कम हो गई। विद्यार्थियों को यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि बिकने के लिए जितनी वस्तुएँ और सेवाएँ आती हैं वे सब मुद्रा के बदले में ही नहीं बिकतीं। उनमें से कुछ आपस में अदल-बदल हो जाती हैं—ऐसी वस्तुओं के लेन-देन से मुद्रा की माँग नहीं बनती। मुद्रा की माँग तो ऐसी वस्तुओं में निहित होती है जिनका क्रय-विक्रय मुद्रा के द्वारा होता है। मुद्रा की माँग मुद्रा की सहायता से होने वाले व्यापारिक क्रय-विक्रय पर निर्भर होती है।

जैसे-जैसे बिक्री के लिए आने वाली वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है तैसे-ही-तैसे मुद्रा की माँग भी बदलती रहती है। किसी देश में मुद्रा की माँग अर्थात् मुद्रा में विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा उसी समय स्थाई रहती है

(१) जबकि वहाँ की जन-संख्या में कोई परिवर्तन न हो,
(२) प्रति व्यक्ति वस्तुओं के उत्पादन में कोई फेर-बदल न हो,
(३) उत्पादकों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं में कोई फेर-बदल न हो,
(४) तथा एक-दूसरे से अदल-बदल की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में कोई फेर-बदल न हो।

यदि किसी समय देश की जन-संख्या बढ़ने के कारण उत्पादन भी बढ़ जाय तो मुद्रा की माँग भी बढ़ सकती है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ने के कारण या अन्य किसी कारण से मुद्रा के बदले में बेचे जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ जाय तो मुद्रा की माँग भी स्थाई नहीं रह सकती वरन् उसमें भी फेर-बदल होने लगेगी। यदि मुद्रा की माँग स्थाई रहे और उसकी पूर्ति में फेर-बदल हो तो मुद्रा का मूल्य उसकी पूर्ति की विपरीत दिशा में बदलता रहेगा—अगर पूर्ति बढ़ी तो मूल्य गिरेगा और यदि पूर्ति कम हुई तो मूल्य बढ़ेगा।

(ब) 'मुद्रा की पूर्ति:—मुद्रा की पूर्ति' से उस मुद्रा का अर्थ है जो विनिमय माध्यम के काम आने के लिए हो अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुएँ या सेवाएँ ख़रीदी जाती हों। मुद्रा की पूर्ति का अर्थ प्रसारित मुद्रा की कुल मात्रा से नहीं होता क्योंकि उसमें से सभी मुद्रा विनिमय-माध्यम के काम नहीं आती वरन् उसके कुछ अंश को लोग संग्रह कर लेते हैं और इस प्रकार वह भाग लोगों के पास निठल्ला पड़ा रहता है। अतः केवल विनिमय-माध्यम के काम आने वाली चालू मुद्रा को ही मुद्रा की पूर्ति समझना चाहिए। इसमें सब प्रकार की मुद्राओं को (जैसे सिक्के, नोट तथा साख-मुद्रा) सम्मिलित कर लेना पड़ता है। मिल नामक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने लिखा है कि "किसी भी समय मुद्रा की जितनी भी मात्रा चलन (Circulation) में होती है वह सब मुद्रा की पूर्ति कहलाती है" और जितनी भी वस्तुएँ और सेवाएँ बिक्री के लिए होती हैं वे सब मिलकर मुद्रा की माँग बनाती हैं।

किसी भी समय देश में मुद्रा की पूर्ति का सही सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। हाँ, सिक्कों और नोटों की संख्या ज्ञात करके उनकी पूर्ति का अनुमान लगाया जा सकता है परन्तु साख-मुद्रा—चेक, बिल आदि के द्वारा जो विनिमय का काम होता है उसकी मात्रा जानना असम्भव है। इसलिए मुद्रा की पूर्ति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर, इसमें एक कठिनाई और भी है। मुद्रा की पूर्ति विनिमय-माध्यम के काम आने वाली मुद्रा के केवल परिमाण से ही नहीं जानी जा सकती। वरन् इसमें हमें मुद्रा के चलन की गति (Rapidity of Circulation of Money) या मुद्रा की कार्य-कुशलता का भी ध्यान रखना पड़ता है। जितनी तेज़ी के साथ और जितने अधिक विनिमय के लेन-देन कोई मुद्रा करे उतनी ही संख्या में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। मुद्रा की चलन की गति का पता लगाना अर्थात् यह मालूम करना कि किसी सिक्के ने, नोट ने, या चेक ने कितनी बार क्रय-विक्रय का काम किया, असम्भव है। मुद्रा के चलन की गति भी समय-समय पर बदलती रहती है। जब मुद्रा के परिणाम में कोई फेर-बदल होती है तो उसका प्रभाव मुद्रा के चलन की गति पर भी पड़ता है। जब कभी देश में आन्तरिक हल-चल हो या राजनैतिक स्थिति ख़राब हो अथवा आर्थिक संकट हो तब मुद्रा की पूर्ति में कमी होने लगती है और जब व्यापार उन्नति पर हो तथा आर्थिक व्यवस्था संगठित हो तो उस समय मुद्रा

की पूर्ति बढ़ने लगती है। कुछ भी हो, मुद्रा की पूर्ति का सही-सही पता लगाना असम्भव है।

(६) प्रो० इर्विंग फ़िशर का फ़ॉर्मूला

प्रो० फ़िशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को गणित के रूप में व्यक्त किया है। आरम्भ में इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया था—

$$PT = MV$$

अर्थात्, (वस्तुओं का औसत मूल्य) × (वस्तुओं का कुल लेन-देन)
= (चालू मुद्रा का परिमाण) × (मुद्रा के चलन की गति)

अर्थात्, वस्तुओं का औसत मूल्य = $\frac{\text{(मुद्रा का परिमाण)} \times \text{(मुद्रा के चलन की गति)}}{\text{वस्तुओं का कुल लेन-देन}}$

अर्थात्, मू = $\frac{\text{मु} \times \text{ग}}{\text{व}}$।

इस प्रकार लिखने से मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आशय स्पष्ट होता है कि यदि 'ग' और 'व' जैसे-के-तैसे स्थाई बने रहें तो 'मू' और 'मु' में एक ही दिशा में परिवर्तन होंगे। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा के परिमाण (मु) में कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य (मू) उसी दिशा में बदलेंगे, यदि मुद्रा के चलन की गति (ग) में कोई परिवर्तन हुआ तो भी वस्तुओं के मूल्य (मू) उसी दिशा में बदलेंगे परन्तु यदि वस्तुओं के कुल लेन देन में (व) कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के मूल्य (मू) उसकी विपरीत दिशा में बदलेंगे।

आगे चलकर यह फ़ॉर्मूला अपूर्ण बतलाया गया और कहा गया कि इसमें केवल धातु-मुद्रा (सिक्कों) की मात्रा पर ही विशेष ज़ोर दिया गया है और नोट तथा साख-मुद्रा के परिमाण को सम्मिलित नहीं किया गया है। आजकल सिक्कों के साथ-साथ नोट और चेक आदि भी लेन-देन के काम आते हैं तथा अधिकांश लेन-देन नोटों या चेकों के द्वारा ही होता है। यातायात के उन्नत साधनों तथा बैंकिंग की सुविधाओं ने तो साख-मुद्रा का प्रयोग और प्रचार और भी अधिक बढ़ा दिया है। इसलिए पहिले बनाए गए फ़ॉर्मूले में आवश्यक सुधार करके निम्न फ़ॉर्मूला बना दिया गया है :—

$$\text{मू} = \frac{\text{मु} \times \text{ग} + \text{सा. मु.} \times \text{सा. ग.}}{\text{व}}$$

मू = वस्तुओं का औसत मूल्य
मु = चालू (सिक्कों व नोटों) मुद्रा का परिमाण
ग = नोटों व सिक्कों के चलन की गति
सा. मु. = चालू साख-मुद्रा का परिमाण
सा. ग. = साख-मुद्रा के चलन की गति
व = वस्तुओं का कुल लेन-देन

इस फ़ॉर्मूले के द्वारा यह बात भली-भांति समझ में आ सकती है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी सत्य होता है जबकि अन्य परिस्थितियाँ जैसी-की-तैसी बनी रहें। इस फ़ॉर्मूले में अन्य परिस्थितियाँ 'ग', 'सा. मु.', 'सा. ग.' और 'व' हैं। यदि ये सब स्थाई बनी रहें, अर्थात् (ग) मुद्रा की गति, (सा. मु.) साख-मुद्रा के परिमाण, (सा. ग.) साख-मुद्रा की गति तथा (व) वस्तुओं के कुल लेन-देन में कोई फेर-बदल न हो तो मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अच्छी तरह लागू होता है। यदि इनमें कोई परिवर्तन हुआ तो वस्तुओं के औसत मूल्य (मू) में केवल मुद्रा के परिमाण (मु) के कारण ही नहीं वरन् इनके कारण भी उतार-चढ़ाव होने लगेंगे और तब वस्तुओं का औसत मूल्य केवल मुद्रा के परिमाण पर ही नहीं वरन् इन परिस्थितियों पर भी आश्रित समझा जाएगा। जैसे—

(१) यदि (मु तथा सा. मु.) मुद्रा का परिमाण बढ़ जाय परन्तु (ग तथा सा. ग.) मुद्रा की गति और (व) वस्तुओं का कुल लेन-देन ज्यों-का-त्यों रहे तो वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ जाता है।

(२) यदि (ग तथा सा. ग.) मुद्रा की गति बढ़ जाय परन्तु मुद्रा का परिमाण तथा वस्तुओं का कुल लेन-देन ज्यों-का-त्यों रहे तो वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ता है।

(३) यदि (व) वस्तुओं के कुल लेन-देन में बढ़ोत्तरी हुई परन्तु मुद्रा का परिमाण और मुद्रा की गति ज्यों-की-त्यों रहे तो वस्तुओं का मूल्य घटता है।

(४) मुद्रा की माँग में कमी हुई परन्तु मुद्रा का परिमाण और मुद्रा की गति ज्यों-की-त्यों रहे तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है।

इस प्रकार हमने देखा कि पाँच ऐसे कारण हैं जिनका वस्तुओं के औसत मूल्य पर प्रभाव पड़ता है—(१) मु [मुद्रा (सिक्कों और नोटों) का परिमाण]
(२) सा.मु. [साख-मुद्रा का परिमाण]
(३) ग [मुद्रा के चलन की गति]
(४) सा. ग. [साख-मुद्रा के चलन की गति]
(५) व [वस्तुओं का कुल लेन-देन]

यदि और कोई बाह्य शक्ति वस्तुओं के औसत मूल्य पर प्रभाव डालती है तो वह इन्हीं पाँच शक्तियों के द्वारा ऐसा कर सकती है।

(७) सिद्धान्त के विरोध में युक्तियाँ

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के विरोध में अनेक मुद्रा-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियाँ दी हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) कुछ विरोधियों का कहना है कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा को वस्तुओं के मूल्य-स्तर के घटने-बढ़ने का कारण मान लिया गया है परन्तु

यह बात ग़लत है। उनके विचार से वस्तुओं के मूल्य-स्तर को मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का कारण मानना चाहिए। उनका कहना है कि मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने से मुद्रा की मात्रा भी घटती-बढ़ती है।

विरोधियों का यह तर्क ठीक नहीं जान पड़ता। ऐसा कभी नहीं होता कि मूल्य-स्तर बढ़े और फिर उसके साथ-साथ मुद्रा की मात्रा भी बढ़ा दी जाय। हाँ, ऐसा अवश्य होता है कि जिस स्थान पर मूल्य-स्तर ऊँचे होते हैं वहां से मुद्रा की मात्रा हटकर ऐसे स्थानों पर आने लगती है जहाँ मूल्य स्तर नीचे होते हैं और इस प्रकार दोनों स्थानों के मूल्य-स्तरों में समानता आ जाती है। इसी आधार पर प्रो० फ़िशर ने लिखा है कि "मूल्य-स्तर को मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का कारण समझना एक बड़ी-भारी भूल है। हाँ, ऐसा होता है कि एक स्थान के मूल्य-स्तर दूसरे स्थान की मुद्रा की मात्रा पर अपना प्रभाव डालते हैं।"

(२) कुछ लोगों का तर्क है वस्तुओं के मूल्य तो वस्तुओं की माँग और पूर्ति के आधार पर ज्ञात होते हैं इसलिए उनका सम्बन्ध मुद्रा के परिमाण के साथ स्थापित करना ठीक नहीं है। मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य स्तर पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती।

प्रो० फ़िशर का कहना है कि विरोधियों का यह तर्क बिलकुल ग़लत है। माँग और पूर्ति के आधार पर तो किसी एक वस्तु विशेष का मूल्य जाना जा सकता है परन्तु वस्तुओं का औसत मूल्य नहीं जाना जा सकता। वस्तुओं का औसत मूल्य तो मुद्रा की मात्रा के आधार पर ही जाना जा सकता है और एक वस्तु के मूल्य के आधार पर वस्तुओं के सामान्य मूल्य-स्तर का अनुमान लगाना बिलकुल भ्रमात्मक है। किसी एक लहर की ऊँचाई के आधार पर ही समुद्र के धरातल (स्तर) का अनुमान नहीं लगाया जा सकता परन्तु समुद्र के स्तर के आधार पर लहरों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार एक वस्तु विशेष का मूल्य वस्तुओं के सामान्य (औसत) मूल्य का आधार नहीं हो सकता परन्तु वस्तुओं के सामान्य मूल्य के आधार पर किसी वस्तु विशेष के मूल्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) कुछ लोग कहते हैं कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल एक गल्प है और इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। इसके उत्तर में प्रो० फ़िशर का कहना है कि गल्प को केवल गल्प मानकर ही नहीं छोड़ देना चाहिए वरन् जब उनकी सत्यता प्रगट हो जाय तो उनसे पूरा-पूरा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। अतः यदि सिद्धान्त गल्प भी है तो भी सत्य है और इसका अपना कुछ महत्व भी है। प्रो० लॉफ़्लिन तथा प्रो० निकोलसन इस सिद्धान्त के कट्टर विरोधियों में से हैं।

(८) सिद्धान्त की आलोचना

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के विरुद्ध तरह तरह के आरोप लगाए जाते हैं। आधुनिक जगत् में इसकी कड़ी आलोचना होने लगी है। लेवेन्सकी नामक मुद्रा-शास्त्री

ने तो यहाँ तक कहा है कि मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्य-स्तर में भी फेर-बदल होना एक साधारण और स्वयंसिद्ध बात है। अतः इस सिद्धान्त में कोई नवीन शोध नहीं है।

(१) इस सिद्धान्त की सबसे कड़ी आलोचना यह है कि इसमें अन्य परिस्थितियों को जैसी-की-तैसी रहने की कल्पना की गई है। परन्तु साधारणतया अन्य परिस्थितियाँ जैसी-की तैसी कभी नहीं रहतीं। वर्तमान समाज में ये परिस्थितियाँ बदलती रहतीं हैं—कभी प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा बढ़ती है, कभी जन-संख्या बढ़ने के कारण उत्पादन बढ़ने लगता है, कभी मुद्रा के चलन की गति में फेर-बदल होने लगते हैं और कभी साख-मुद्रा की मात्रा में घटा-बढ़ी हो जाती है। अल्पकालीन परिस्थितियों में भी ये सभी बातें जैसी-की-तैसी नहीं रहतीं। यदि कभी मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होता है तो केवल मूल्य-स्तर पर ही उसका प्रभाव नहीं पड़ता वरन् मुद्रा के चलन की गति पर, तथा वस्तुओं के कुल लेन-देन पर उसका प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार मूल्य-स्तर में अन्य परिस्थितियों के कारण भी फेर-बदल होने लगते हैं। लेवे सकी ने लिखा है कि "बहुत से लोग यह समझते हैं कि मुद्रा की मात्रा और मूल्य-स्तर दोनों का ही आपस में सम्बन्ध है और अन्य परिस्थितियों का इनसे कोई सम्पर्क नहीं। परन्तु यह बात ग़लत है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तो एक ऐसी मशीन है जिसके फ़ॉर्मूले का प्रत्येक भाग एक-दूसरे से सम्बन्धित है। उस मशीन में केवल 'मुद्रा की मात्रा' और 'मूल्य-स्तर' के ही दो पहिए नहीं हैं वरन् छोटे-छोटे अनेक पहिए हैं। मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने से केवल मूल्य-स्तर का पहिया ही नहीं घूमता वरन् मुद्रा की गति, साख-मुद्रा की गति तथा वस्तुओं के लेन-देन के सभी पहिए घूम जाते हैं। यह भी नहीं कि ये पहिए एक तरफ ही घूमते हों वरन् दोनों ओर घूमते रहते हैं।" इन परिस्थितियों में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक स्थाई सत्य नहीं जान पड़ता।

(२) इस सिद्धान्त के द्वारा यह बात भी ज्ञात नहीं होती कि किस विधि के अनुसार मुद्रा की मात्रा के घटने-बढ़ने से मूल्य-स्तर घट-बढ़ जाते हैं। इससे इस बात का भी सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता कि व्यापार-चक्र (Trade cycle) में मूल्य स्तर के घटने-बढ़ने के क्या कारण होते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि मन्दी के काल में मुद्रा का परिमाण ज्यों-की-त्यों रहता है परन्तु मूल्य-स्तर फिर भी गिर जाते हैं। इसी प्रकार तेज़ी के काल में मुद्रा का परिमाण नहीं बदलता परन्तु फिर भी मूल्य-स्तर ऊँचे हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुओं के मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने का कारण केवल मुद्रा का परिमाण ही नहीं है वरन् कुछ और भी ऐसा कारण है जिससे मूल्य-स्तर बदलते रहते हैं।

(३) प्रो० कीन्स ने इस सिद्धान्त की एक नए प्रकार से ही आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त के फ़ार्मूले में (व) वस्तुओं के कुल लेन-देन का जो ज़िक्र किया गया है वह अधूरा है। मुद्रा के द्वारा होने वाले अधिकांश लेन-देन

या तो औद्योगिक होते हैं या व्यापार और वित्त सम्बन्धी होते हैं। मुद्रा के द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धी लेन-देन तो बहुत कम होते हैं। अतः (व) को सम्मिलित करने से मुद्रा की कुल क्रय-शक्ति का सही-सही और पूरा-पूरा अनुमान नहीं होता वरन् केवल (Cash Purchases and Sales) नक़द क्रय-विक्रय का ही अनुमान होता है। इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(४) इस सिद्धान्त में आलोचना का एक विषय यह है कि इसके अन्तर्गत दी हुई मुद्रा की गति और साख-मुद्रा की मात्रा को मापना या उसका अनुमान लगाना असम्भव है। सिक्कों या नोटों की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है परन्तु विनिमय माध्यम का काम करने वाले चेकों, बिलों या अन्य साख-मुद्रा के परिमाण का पता लगाना असम्भव है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि साख-मुद्रा की मात्रा जानी जा सकती है तो मुद्रा के चलन की गति का सही-सही अनुमान लगाना तो बिलकुल असम्भव है। यह ज्ञात करना असम्भव है कि किसी सिक्के ने, नोट ने या चेक ने कितनी बार क्रय-विक्रय का काम किया। अतः यह सिद्धान्त अधिकांश परिस्थितियों में केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। इसकी सत्यता निश्चित शब्दों में नहीं बाँधी जा सकती।

(५) कुछ लोगों का आक्षेप है कि इस सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है बल्कि यह माँग और पूर्ति के विवेचन का सरल ढंग है। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें मुद्रा की मात्रा कम या अधिक होने से क्या परिणाम होते हैं—इसका विवेचन है जिससे हम मुद्रा की मात्रा में आवश्यक परिवर्तन करके क़ीमतों पर नियंत्रण कर सकें।

(६) इस सिद्धान्त में मुद्रा की माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है जिसका प्रभाव मुद्रा की क्रय-शक्ति या वस्तुओं के भावों पर अधिक पड़ता है।

(७) कुछ लोगों का विश्वास है कि यह सिद्धान्त माँग एवं पूर्ति के नियम पर आधारित एक स्वयंसिद्ध सत्य है जिसको बहुत अधिक महत्व दे दिया गया है। यह बात ठीक हो सकती है परन्तु इस सिद्धान्त के द्वारा वस्तुओं के भावों में समायोजन (Adjustment) करने में प्रत्यक्ष सहायता मिलती है। अतः यह सिद्धान्त उपयोगी है जिसका अध्ययन करना आवश्यक है।

इस सिद्धान्त की एक त्रुटि की ओर प्रो० फ़िशर ने अपने आप संकेत किया है। उन्होंने बताया है कि 'संक्रान्ति-काल' (Transitional Periods) में मुद्रा की मात्रा और मूल्य-स्तर में कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहता। 'संक्रान्ति-काल' वह समय होता है जबकि मूल्य-स्तर घटने या बढ़ने लगते हैं और परिस्थितियाँ उन्हें सन्तुलन (Equilibrium) में लाने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे समय में मूल्य-स्तर की घटा बढ़ी केवल मुद्रा के कारण ही नहीं होती वरन् अन्य कारणों से भी होती है। परन्तु जब संक्रान्ति-काल समाप्त हो जाता है तो मुद्रा की मात्रा और मूल्य-स्तर में फिर आनुपातिक सम्बन्ध पैदा हो जाता है और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त फिर लागू हो जाता है।

कुछ भी हो मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त समाज की कुछ कल्पित और स्थिर परिस्थितियों में ही लागू होता है—समाज की सभी परिस्थितियों में यह सिद्धान्त एक जैसा नहीं रहता।

(६) सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता

यद्यपि इस सिद्धान्त के विरुद्ध भांति-भांति के आरोप लगाए जाते हैं और उनमें से कुछ सही भी हैं परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का अपना कुछ महत्त्व अवश्य है। निस्सन्देह, चालू मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य स्तर के घटने-बढ़ने का एक कारण है। और भी ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे वस्तुओं के भाव बदलते रहते हैं परन्तु वे सब कारण इतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते जितना महत्त्वपूर्ण मुद्रा की मात्रा घटना-बढ़ना है। यह सिद्धान्त हमें मूल्य परिवर्तन का कम-से-कम एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण तो बतलाता ही है। इसी सिद्धान्त के सहारे चालू मुद्रा की मात्रा में कमी-बेशी करके देश के मूल्य स्तर को नियन्त्रित किया जा सकता है। बढ़ते हुए मूल्य-स्तर को मुद्रा की मात्रा में कमी करके नीचे गिराया जा सकता है। परन्तु साधारणतया यह नीति अधिक अंश में काम नहीं लाई जाती क्योंकि मुद्रा की मात्रा एकदम कम करने से उत्पादन में कमी होने तथा बेकारी फैलने का भय रहता है। जब कभी मूल्य-स्तर बहुत बढ़ जाते हैं और उनके द्वारा समाज को हानि होने लगती है (जैसाकि प्रथम महायुद्ध-काल और द्वितीय युद्ध-काल में हुआ था) तो इसी सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा की मात्रा कम करके मूल्य-स्तर नीचे किए जाते हैं। यह ठीक है कि मूल्य-स्तर घटने-बढ़ने का एक मात्र कारण मुद्रा का परिमाण ही नहीं है परन्तु अनेक कारणों में से यह भी एक कारण है और एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण है। अतः मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में सत्यता अवश्य है और इसकी अपनी उपयोगिता है। इसने कम-से-कम मूल्य स्थिर बनाने का एक मार्ग तो दिखा ही दिया है। राबर्टसन नामक एक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है कि:—

"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है—यह एक ऐसा सत्य है जिसे वास्तविक जीवन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों में सम्पर्क स्थापित करने के लिए समझना अनिवार्य है।"

(१०) भारत और 'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त'

अपने पुराने रूप में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त भारत तो क्या संसार के किसी भी देश में लागू होना नहीं देखा गया है। सिद्धान्त का पुराना रूप था "मुद्रा का परिमाण घटने-बढ़ने से मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात में बढ़ता और घटता है।" संसार के किसी भी देश में यह सिद्धान्त इस रूप में लागू होता नहीं पाया गया। हाँ, मुद्रा की मात्रा के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यों में भी परिवर्तन होते देखे गए हैं परन्तु मुद्रा की मात्रा के अनुपात में मूल्यों में परिवर्तन होना बहुत कम देखा गया है। मूल्यांकों (Index Numbers) से यह बात मालूम होती है कि भारत में १८६४ में

कुल चालू मुद्रा का निर्देशाँक १०० था जो १९१२ में १६४ हो गया; परन्तु इस बीच में वस्तुओं के मूल्य उसी अनुपात में नहीं बदले। वस्तुओं का मूल्यांक १८९४ में १०० था जो १९१२ में १३८ हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों में उसी अनुपात में फेर-बदल नहीं हुई। इसी प्रकार १९२० से १९३४ तक के मुद्रा के इतिहास से पता लगता है कि १९२० में चालू मुद्रा का निर्देशाँक १०० था जो १९३४ में घट कर ७४ हो गया परन्तु वस्तुओं के भाव १९२० में १०० थे जो १९३४ तक ४४ हो गए। इससे पता लगता है कि इस काल में वस्तुओं के मूल्य-स्तर मुद्रा की मात्रा की अपेक्षाकृत अधिक नीचे गिर गए थे और उन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु कभी कभी ऐसी भी स्थिति आती है जबकि मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों में समान अनुपात में परिवर्तन होते हैं। प्रो० कीन्स ने अपने एक लेख में दर्शाया है कि १९०३ और १९०७ के बीच में भारत में चालू मुद्रा और वस्तुओं के मूल्यों में जो परिवर्तन हुए वे एक-दूसरे के समानुपात में थे। प्रो० कीन्स ने बताया है कि १९०३ में चालू मुद्रा और वस्तुओं के मूल्यों के निर्देशाँक (Index Number) १०० थे परन्तु १९०७ में इनमें जो परिवर्तन हुए वे लगभग एक-दूसरे के समानुपात में क्रमशः १४० और १३८ थे।

दूर जाने की आवश्यकता नहीं है द्वितीय विश्वयुद्ध-काल में ही हमें यह देखने को मिलता है कि जिस गति से हमारे देश में मुद्रा प्रसार हुआ उसके विषम अनुपात में मूल्य-स्तर बढ़ते गए। युद्ध के पश्चात् तो स्थिति और भी अच्छी तरह स्पष्ट होती है। इस काल में यद्यपि मुद्रा प्रसार रोका गया और चालू मुद्रा की मात्रा में कमी की गई परन्तु मूल्य-स्तर में कमी होने की जगह उल्टी बढ़ोत्तरी हुई। मुद्रा की मात्रा यद्यपि कम हुई परन्तु मूल्य-स्तर बढ़ते-बढ़ते आकाश को छूने लगे। मुद्रा की मात्रा को छोड़ इस काल में अनेक ऐसे कारण थे जिनकी वजह से मूल्य-स्तर बढ़ते गए—उत्पादन की कमी थी, चोर बाज़ारी थी, जन-संख्या बढ़ रही थी आदि आदि।

परन्तु उक्त परिस्थितियों से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त असत्य है और हमारे देश में बिलकुल लागू नहीं होता है। वस्तुओं के मूल्यों पर मुद्रा का परिमाण का प्रभाव अवश्य पड़ता है परन्तु बीच-बीच में कुछ अन्य ऐसे कारण आ जाया करते हैं जिनके कारण मूल्यों पर मुद्रा के परिमाण का प्रभाव या तो स्पष्ट नहीं जान पड़ता और या उस प्रभाव का वास्तविक परिमाण नहीं जाना जा सकता। ये अन्य कारण मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं और समय-समय पर बदलते रहते हैं—इनको मापना बहुत कठिन होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वस्तुओं के मूल्य-स्तर में फेर-बदल करने वाले अनेक कारण हैं और मुद्रा की मात्रा उन कारणों में से एक मुख्य, महत्त्वपूर्ण तथा मान्य कारण है।

मुद्रा के चलन की गति (वेग)
[Velccity of Circulation of Money]

'मुद्रा की पूर्ति' का अर्थ समझाते समय हमने मुद्रा के चलन की गति की ओर संकेत किया था और बताया था कि मुद्रा की पूर्ति का अनुमान केवल मुद्रा के परिमाण से ही नहीं जाना जा सकता वरन् मुद्रा के चलन की गति या वेग को भी ध्यान में रखना पड़ता है। यहाँ हम मुद्रा के चलन की गति का विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

(अ) चलन की गति का अर्थ—मुद्रा के चलन की गति का अर्थ है कि मुद्रा कितनी तेज़ी से चलती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर कितनी तेज़ी से जाती है वरन् इसका अर्थ है कितनी तेज़ी के साथ कितनी बार विनिमय (क्रय-विक्रय) का काम करती है। दूसरे शब्दों में इसे मुद्रा की कार्य-कुशलता, मुद्रा की क्रिया-शक्ति या मुद्रा के काम करने की शक्ति भी कह सकते हैं।

> उदाहरण—मान लो, दस व्यक्ति हैं—उनमें से एक के पास १०० रुपये हैं और बाकी नौ व्यक्तियों के पास बिक्री के लिए माल है। मान लो, अ ने १०० रुपये देकर ब से उसका माल ख़रीद लिया, ब ने उन रुपयों को स को देकर उससे उसका माल ले लिया और इसी प्रकार सब लोग उन्हीं १०० रुपयों के बदले में माल ख़रीदते रहे यहाँ तक कि अन्त में वे १०० रुपये १० वें व्यक्ति के पास आ गए। इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपना-अपना माल १०० रुपये के बदले में बेच दिया। अतः मूल्य-स्तर १०० ही रहा। यदि अ अन्य नौ व्यक्तियों से एक साथ माल ख़रीदना चाहता तो उसे ९०० रुपये की एक साथ आवश्यकता होती। इस परिस्थिति में भी मूल्य-स्तर तो १०० ही रहता परन्तु मुद्रा की मात्रा की आवश्यकता बढ़ जाती। इससे यह स्पष्ट होता है कि पहिली परिस्थिति में १०० रुपये ने विनिमय का काम ९ बार किया परन्तु दूसरी स्थिति में १०० रुपयों ने विनिमय का काम केवल १ बार ही किया। अतः पहली स्थिति में मुद्रा के चलन का वेग दूसरी स्थिति की अपेक्षा अधिक रहा।

(ब) चलन की गति और मूल्य-स्तर—इस उदाहरण से एक बात और स्पष्ट होती है कि यदि हम किसी प्रकार मुद्रा के चलन की गति को बढ़ा दें तो हमें कम मुद्रा की आवश्यकता होती है और यदि किसी कारण से मुद्रा के चलन की गति मन्द हो जाती है तो उतने ही लेन-देन में हमें अपेक्षाकृत अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है; परन्तु ऐसा तभी होता है जबकि मुद्रा का मूल्य दोनों स्थितियों में एक सा ही बना रहे। औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रों में जहाँ पारस्परिक लेन-देन में प्रतियोगिता रहती है मुद्रा के चलन की गति प्रायः तेज़ होती है। क्योंकि वहाँ

का व्यापार बढ़ता जाता है इसलिए वहाँ अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए मुद्रा के चलन की गति तीव्र हो जाती है और मुद्रा की अधिक मात्रा की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार यह ज्ञात होता कि मुद्रा के चलन की गति मूल्य-स्तर को टिकाऊ रखने का एक साधन है। अतः यदि मूल्य-स्तर को टिकाऊ बनाने की आवश्यकता हो तो मुद्रा के चलन की गति में भी उतना ही वेग स्थापित कर देना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल मुद्रा की गति से ही मूल्य-स्तर टिकाऊ बन सकेगा—इसके लिए यह भी आवश्यक है कि मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की मात्रा दोनों में से किसी में कोई फेर-बदल नहीं होनी चाहिए। यदि मुद्रा या वस्तुओं की मात्रा में कोई फेर-बदल हुई और मुद्रा के चलन के गति उतनी ही बनी रही तो भी मूल्य-स्तर में परिवर्तन अवश्य होंगे।

(स) चलन की गति में फेर-बदल होने के कारण—मुद्रा के चलन की गति को तेज़ करने वाले कारण हैं—

(१) मुद्रा की आपेक्षिक कमी।
(२) जन-संख्या में वृद्धि।
(३) यातायात एवं संचार साधनों की उन्नति।
(४) मूल्य और आय के अनुकूल टङ्कण प्रणाली।
(५) सामान्य आर्थिक उन्नति।

यदि किसी समय मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से कम हो तो प्रत्येक व्यक्ति एक मुद्रा से अधिक से अधिक विनिमय का काम करने का प्रयत्न करता है तथा लोग मुद्रा संग्रह करना कम कर देते हैं। इस प्रकार मुद्रा के चलन का वेग बढ़ने लगता है। यदि जन-संख्या बढ़ जाय या यातायात के साधन अधिक और अच्छे हो जाँय तो मुद्रा के लेन-देन, लाने-ले जाने तथा चलाने की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं और इस प्रकार गति में वेग आ जाता है।

यदि ऐसी मुद्रा बनाई जाँय जो जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल न हों और जिनको वे अपने नित्य प्रति के लेन-देन में काम न ला सकें तो स्वभावतः लोग उनको अपने लेन-देन के काम में नहीं लाएँगे और इस प्रकार मुद्रा के चलन की गति मन्द पड़ जायगी। यदि मुद्रा के चलन की गति बढ़ानी हो तो टङ्कण-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत ऐसी मुद्राएँ बनाई जाँय जो जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल हों और जिनको वे अपने लेन-देन के काम में ला सकें। कहने का अर्थ यह है कि यदि छोटी-छोटी राशि की मुद्राओं की आवश्यकता हो तो ऐसी ही मुद्राएँ बननी चाहिएँ बड़ी राशि की नहीं अन्यथा वे लोगों की आवश्यकता के अनुकूल नहीं होंगी और लोग उनको संग्रह करने लगेंगे जिससे मुद्रा के चलन की गति मन्द पड़ जायगी। जब देश में सामान्यतः आर्थिक संगठन रहता है तो लोगों में

पारस्परिक विश्वास बढ़ जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय करने लगता है जिससे मुद्रा का वेग बढ़ जाता है।

मुद्रा के चलन की गति मन्द पड़ने के निम्न कारण हैं :—

(१) संकटकालीन भय (२) व्यापार की डावाँडोल स्थिति।

अवनत तथा कृषि प्रधान देशों में विकसित तथा उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षाकृत मुद्रा की मात्रा कम तथा मुद्रा के चलन की गति मन्द होती है क्योंकि उन देशों में लेन-देन प्रायः कम रहता है। औद्योगिक केन्द्रों तथा व्यापारिक शहरों में अन्य स्थानों की अपेक्षाकृत मुद्रा के चलन की गति तेज़ होती है। दिल्ली की अपेक्षा बम्बई में मुद्रा के चलन की गति तेज़ है, आगरा की अपेक्षा दिल्ली में अधिक तेज़ है और पिलानी की अपेक्षा आगरा में अधिक तेज़ है। साधारणत: ऐसा देखा गया है कि जब कभी किसी स्थान पर लेन-देन (क्रय-विक्रय) का काम बहुत अधिक बढ़ जाता है तो वहाँ के मूल्य-स्तर को सन्तुलित बनाने और उचित अनुपात में टिकाऊ बनाने के लिए वहाँ के लोगों को या तो मुद्रा की मात्रा में फेर-बदल करनी पड़ती है या मुद्रा के चलन की गति में परिवर्तन करना पड़ता है और या एक साथ ही दोनों काम करने पड़ते हैं।

(द) साख की गतिशीलता—जिस प्रकार सिक्कों या नोटों के चलन की गति होती है उसी प्रकार साख के लेन-देन में भी चलन की गति पाई जाती है। परन्तु साख के चलन की गति को जमाराशि की गतिशीलता (Mobility of Balances) कहना उचित होगा। जितनी जल्दी एक व्यक्ति के हिसाब में से दूसरे के हिसाब में राशि बदली जाता है उतनी ही तेज़ी से दूसरा व्यक्ति उसे अपने लेन-देन मे काम ला सकता है और तब उतने ही वेग से साख की गतिशीलता बढ़ सकती है। जिस देश में बैंकिंग व्यवस्था उन्नत होता है वहां की साख में अधिक गतिशीलता होती है। भारत की अपेक्षा अमेरिका की साख अधिक गतिशील है। मुद्रा की क्रय शक्ति पर साख की गतिशीलता का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा सिक्कों या नोटों के चलन के वेग का होता है।

प्रश्न

१. 'मुद्रा के मूल्य' से आप क्या समझते हैं? मुद्रा का मूल्य किन-किन बातों पर निर्भर होता है तथा कैसे मालूम किया जाता है? विवेचनात्मक उत्तर लिखिए।

२. मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त क्या है? आलोचनात्मक उत्तर लिखिए।

३. मुद्रा की माँग और पूर्ति से आपका क्या तात्पर्य है? इन दोनों का मुद्रा के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?

४. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना कीजिए। इस सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थशास्त्रियों के क्या २ आक्षेप हैं—इन आक्षेपों की विवेचना कीजिए। इस सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

५. 'मुद्रा के चलन की गति' (वेग) से आप क्या समझते हैं ? मुद्रा के चलन की गति पर किन-किन शक्तियों का प्रभाव पड़ता है ?

६. भारत में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कैसे लागू हुआ है ? सउदाहरण उत्तर समझाइए ।

७. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(अ) मुद्रा की माँग ।

(ब) मुद्रा के परिणाम सिद्धान्त सम्बन्धी प्रो० फ़िशर का फ़ार्मूला ।

(स मुद्रा के चलन का वेग ।

(द) $मू = \frac{मु \times ग + मा.\ मु. \times मा.\ ग.}{व}$

अध्याय ८

मुद्रा का मूल्य (क्रमशः)

मुद्रा-स्फीति (Inflation) ; मुद्रा-संकुचन (Deflation)
मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation) ; मुद्रा-संस्फीति (Reflation)
मूल्य-वृद्धि (Appreciation) ; मूल्य-ह्रास (Depreciation)
अवमूल्यन (Devaluation)

मुद्रा का मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है—कभी मुद्रा का मूल्य ऊँचा हो जाता है और वस्तुओं के भाव नीचे हो जाते हैं और कभी मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और वस्तुओं भाव ऊँचे हो जाते हैं। इसी प्रकार मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के भावों में उलट-फेर होती रहती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से कुछ लोगों को लाभ होता है और कुछ लोगों को हानि भी होती है। इस अध्याय में हम मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे।

(१) मुद्रा-स्फीति (Inflation)

(अ) अर्थ:—जब मुद्रा (सिक्के, नोट और साख-मुद्रा) की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से इतनी अधिक बढ़ जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो मुद्रा-स्फीति कहते हैं। किसी भी देश में मुद्रा-स्फीति होने के दो चिन्ह होते हैं—(१) मुद्रा की क्रय-शक्ति का कम होना, (२) लगभग सभी वस्तुओं के भाव ऊँचा होना। मुद्रा-स्फीति दो प्रकार से उत्पन्न होती है:—

(१) जबकि मुद्रा (सिक्के, नोट तथा साख-मुद्रा) की मात्रा इतनी अधिक कर दी जाय कि वह व्यापार और उद्योगों की आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो जाय और उसकी क्रय-शक्ति कम होने लगे।

(२) जबकि मुद्रा को मात्रा (सिक्के, नोट तथा साख मुद्रा) उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाय जिससे वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जांय और मुद्रा की क्रय-शक्ति स्वतः ही कम हो जाय। मुद्रा-स्फीति का यह रूप केमरर नामक मुद्रा-शास्त्री ने "ए० बी० सी० ऑफ़ इन्फ्लेशन" नामक अपनी पुस्तक में दिया है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक के पृष्ठ ६ पर लिखा है कि 'यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं

की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-स्फीति होती है।" यह याद रखना चाहिए कि जब देश में जन-संख्या तथा व्यापार बढ़ने के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाय तो उसे मुद्रा-स्फीति नहीं कहते।

(ब) कारण:— मुद्रा-स्फीति होने के प्रायः दो ही कारण देखे गए हैं :—

(१) जब कभी सोने-चाँदी की नई खानों का पता लगने से सोने-चाँदी की मात्रा बढ़ने लगती है तो मुद्रा की संख्या बढ़ जाती है और मुद्रा-स्फीति के लक्षण आ जाते हैं। इसी प्रकार यदि देश में बाहर से सोना-चाँदी आयात होने लगे तो उस देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ने लगती है और मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है। १८९६ से १९१०-११ तक वस्तुओं के भाव बढ़ने का यही कारण था कि उस समय दक्षिणी अफ्रीका में सोने की खानों का पता लगा था जिससे सोने की मात्रा बढ़ने लगी और मुद्रा की क्रय-शक्ति घट गई थी। १९१४-१८ और इसके पश्चात् भी संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, स्वीडन, नार्वे तथा स्पेन में सोने का आयात बढ़ने के कारण वहाँ मुद्रा की क्रय-शक्ति घट गई और वस्तुओं के मूल्य बढ़ गए थे।

(२) (अ) किसी गम्भीर अवसर पर देश की सरकार जान-बूझ कर भी मुद्रा-स्फीति करती है। प्रायः युद्ध के समय सरकार देश में मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक बढ़ा देती है। युद्ध काल में सरकार को युद्ध-सम्बन्धी कामों के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है परन्तु युद्ध के कारण परिस्थितियाँ इतनी अनिश्चित होती हैं कि जनता सरकार को उधार नहीं देती ; सरकार नए-नए कर लगाकर भी धन इकट्ठा कर सकती है परन्तु ऐसा करने से जनता में सरकार के प्रति असन्तोष पैदा होने लगता है। अतः सरकार अपरिवर्तनीय नोट छाप-छाप कर चला देती है। जिसके बदले में उसे न तो सोना-चाँदी रखने की आवश्यकता होती है और न कोई ब्याज इत्यादि ही देना पड़ता है। ये नोट इतनी अधिक संख्या में चला दिए जाते हैं कि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाते हैं। मुद्रा की मात्रा तो बढ़ जाती है परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतना नहीं बढ़ पाता।

गत युद्ध-काल में भारत में भारत की विदेशी सरकार ने इतनी अधिक संख्या में नोट छापकर चलाए कि वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे। १९३९ में युद्ध आरम्भ होने से पहिले लगभग १७८ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु १९४६ में युद्ध समाप्त होने पर इनकी संख्या कोई १२४० करोड़ रुपये बराबर हो गई। नोटों की संख्या बढ़ने से वस्तुओं के भाव इतने बढ़े कि १९४५ में मूल्यांक १९३९ की अपेक्षा तिगुने से भी अधिक हो गया।*

---

* भारतीय युद्ध-कालीन मुद्रा-स्फीति का वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है। विस्तृत विवरण के लिए लेखक की "भारतीय मुद्रा का इतिहास" नामक पुस्तक देखिए।

(ब) कभी-कभी सरकार देश में वस्तुओं के नीचे मूल्यों को ऊँचा उठाने के लिए भी मुद्रा-स्फीति करती है। मन्दी के काल में अमेरिका की सरकार ने मुद्रा-स्फीति करके वस्तुओं के भाव ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया था।

(म) शान्तिकाल में भी जब कभी सरकार को धन की आवश्यकता होती है परन्तु जनता से ऋण नहीं मिल पाता या टैक्स लगाकर भी आवश्यकता पूरी नहीं होती तो सरकार नोट छापकर अपनी आवश्यकता पूरी करती है। इससे भी मुद्रा-स्फीति पैदा हो जाती है।

(स) प्रभाव:—मुद्रा-स्फीति का प्रभाव समाज के भिन्न वर्गों पर एक-सा नहीं पड़ता। कुछ लोगों को इससे हानि होती है और कुछ लोगों को इससे लाभ भी होता है। अतः हमें यह देखना चाहिए कि समाज के भिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति का क्या प्रभाव पड़ता है। सुविधा के लिए कुल समाज को हम तीन वर्गों में बाँटे लेते हैं—(१) व्यापारी वर्ग, (२) वेतन भोगी वर्ग (Salaried men) (३) अन्य वर्ग।

(१) व्यापारी वर्ग—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से थोक व फुटकर व्यापारियों को बहुत लाभ होता है। अब वे अपना-अपना माल ऊँचे भावों पर बेच देते हैं जिससे उनको अधिक लाभ मिलता है। देनदार को लाभ तथा लेनदार को हानि होती है। देनदार अब ऋण का भुगतान चुकाने में पहिले की अपेक्षा कम मूल्य देता है जिससे लेनदार को, जितना मूल्य उसने दिया उससे कम मिलता है। लेनदार को अपने दिए ऋण पर जो ब्याज मिलता है उसका मूल्य उसको कम हो जाता है। व्यापारी अधिक लाभ कमाते-कमाते इतने मदमस्त से हो जाते हैं कि वे धन कमाने की लालसा से सट्टेखोरी करने लगते हैं। सट्टा फैलने से व्यापार अनिश्चित हो जाता है और व्यापार की स्थिति डावाँडोल हो जाती है। व्यापारियों में धन कमाने के लिए झूठ, भ्रष्टाचार तथा काले-बाज़ार फैल जाते हैं। लेन-देन में आपस का विश्वास कुछ ढीला पड़ जाता है जिससे लोग धन विनियोग (Invest) करने में हिचकिचाने लगते हैं।

(२) वेतन-भोगी वर्ग—मज़दूरों या निश्चित वेतन पाने वाले लोगों को इससे बहुत हानि होती है। उनका वेतन तो वही रहता है परन्तु वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाते हैं जिससे उनको आवश्यकता की पूरी-पूरी वस्तुएँ नहीं मिल पातीं। यदि उनका वेतन भी बढ़ता है तो वह उस अनुपात में नहीं बढ़ता जिसमें वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं। अत. उनको वस्तुएँ लेने में कठिनाई होती है। इस कारण से मज़दूर वर्ग में असन्तोष बढ़ जाता है और ये हड़ताल करने लगते हैं।

(३) अन्य वर्ग—इस वर्ग में हम किसान, सभी उपभोक्ताओं तथा सरकार को सम्मिलित करते हैं। किसान को उसकी उत्पत्ति का मूल्य बढ़ने से लाभ मिलता है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उपभोक्ताओं को बड़ा कष्ट होता है क्योंकि पिछला रहन-सहन बनाए रखने के लिए अब उन्हें अधिक ख़र्च करना पड़ता है।

अपने देश के किसान व माल बनाने वाले अन्य लोग विदेशी बाज़ारों में अपना माल बेचने के लिए अन्य देशों की प्रतियोगिता (Competition) नहीं कर पाते क्योंकि वस्तुओं के भाव बढ़ने के कारण उनके माल का लागत-व्यय बढ़ जाता है और उनकी वस्तुओं के भाव विदेशी वस्तुओं की अपेक्षा ऊँचे हो जाते हैं।

मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के भाव बढ़ने से जिन लोगों की आय बढ़ जाती है वे पहिले की अपेक्षा अधिक ख़र्चीले बन जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब मुद्रा-स्फीति समाप्त होती है और इनकी आय कम हो जाती है तो इन्हें अपना ख़र्च कम करना कठिन बन जाता है। जिससे ये लोग उधार लेने लगते हैं और अन्त में कष्ट भोगते हैं।

संक्षेप में, मुद्रा-स्फीति से व्यापारी-वर्ग तथा देनदार को लाभ होता है परन्तु मज़दूरों, वेतन-भोगियों, उपभोक्ताओं तथा लेनदारों को हानि होती है। सरकार को इससे यह लाभ होता है कि वह नोट छापकर ही अपना काम चला लेती है। उसे जनता से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती। पर मुद्रा-स्फीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि जब एक बार यह आरम्भ हो जाती है तो इसे रोकना बहुत कठिन हो जाता है यहां तक कि अन्त में मुद्रा का मूल्य इतना घट जाता है कि उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। मुद्रा-स्फीति में व्यापारियों के आचरण भी बिगड़ जाते हैं।

(द) भारत में मुद्रा-स्फीति:—द्वितीय युद्ध-काल में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ा। परिणाम यह हुआ कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ गए। मुद्रा-स्फीति का सब से बड़ा कारण भारत-सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत-सरकार ने इङ्गलैण्ड और मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत के बाज़ारों से माल ख़रीदा। यह माल युद्ध चलाने के लिए ख़रीदा गया था। इस माल के बदले में इङ्गलैण्ड की सरकार ने भारत-सरकार को नक़द रुपया नहीं दिया वरन् इङ्गलैण्ड में भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिज़र्व बैंक को स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटीज़ दे दी जाती थीं। पर भारत सरकार को इस माल के बदले में भारतीय व्यापारियों को रुपया देना पड़ता था। इतना रुपया सरकार के पास कहां से आता? अतः सरकार नोट छाप-छाप कर चलाती रही। १९३९ में देश में कुल मिलाकर कोई १७९ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु दिसम्बर १९४७ में नोटों की कुल संख्या कोई १२४२ करोड़ रुपये हो गई। इस काल में रुपयों और छोटे सिक्कों का प्रसार भी क्रमशः कोई १५० करोड़ और ७५ करोड़ रुपयों से बढ़ गया था। नोट, रुपयों तथा अन्य छोटे सिक्कों का प्रसार बढ़ने से साख-मुद्रा का चलन भी बढ़ जाता है। अतः इन वर्षों में साख-मुद्रा का चलन भी ख़ूब बढ़ गया।

इसके अतिरिक्त भारत-सरकार ने युद्ध काल में ख़र्चा भी खूब किया। इसको पूरा करने के लिये सरकार मुद्रा-प्रसार करती रही। अतः मुद्रा की मात्रा अनाप-सनाप बढ़ गई। दूसरी ओर वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सका। जो कुछ माल पैदा किया जाता या बनाया जाता था वह सैनिकों के लिए भेज दिया जाता था। अतः जनता के उपभोग के लिए वस्तुओं की कमी ही रही जिससे वस्तुओं के मूल्य ऊँचे चढ़ते गए।

मुद्रा-स्फीति के परिणाम बहुत भयङ्कर हुए। मध्य श्रेणी के लोगों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वस्तुओं के मूल्य तो बढ़ गए परन्तु इन लोगों की आय उतनी न बढ़ी जिससे इनका जीवन-व्यय बढ़ता गया और इनको जीवन चलाना कठिन हो गया। उत्पादन न बढ़ने के कारण बाज़ार में वस्तुओं की कमी हो गई जिससे लोग वस्तुओं को इकट्ठा कर-कर के छिपाने लगे। जहां-तहां चोरी से माल ऊँचे भावों पर बिकने लगा। व्यापारी-वर्ग में बेईमानी, भ्रष्टाचार, चोरबाज़ारी आदि बुरी-बुरी बातें बढ़ती गईं।

सरकार ने मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के प्रयत्न किए—मुद्रा की बढ़ी हुई संख्या को वापिस खींचने के लिए जनता पर नए २ टैक्स लगाए, जनता से सरकार ने ऋण लिए तथा सरकार ने सोना भी बेचा जिससे बाज़ार में क्रय-शक्ति कम हो जाय। वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाया गया तथा देश में उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएँ दी गईं। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय-सरकारों ने अपने-अपने ख़र्चे भी कम करने की कोशिश की। चोर-बाज़ारी दूर करने के लिए कड़े-कड़े नियम भी बनाए गए। परन्तु मुद्रा-स्फीति का ज़ोर कम न हुआ। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी वस्तुओं के मूल्य ऊँचे ही बने रहे, और आज भी लगभग ऐसा ही चल रहा है। (इसके विस्तृत विवरण के लिए लेखक की भारतीय मुद्रा का इतिहास नामक पुस्तक पढ़िए।)

(२) मुद्रा-संकुचन (Deflation)

(अ) अर्थ—जब मुद्रा (सिक्के, नोट और साख-मुद्रा) की मात्रा व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं की अपेक्षा इतनी कम कर दी जाती है कि लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं और मुद्रा की क्रिय-शक्ति बढ़ जाती है तो उसे मुद्रा-संकुचन कहते हैं। मुद्रा-संकुचन का सबसे पहिला परिणाम यह होता है कि वस्तुओं के मूल्य बहुत नीचे गिर जाते हैं। प्रो० कीन्स ने लिखा है कि "मुद्रा-संकुचन वह मुद्रा-नीति है जिसके द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा और उसकी आवश्यकताओं के बीच का अनुपात इतना कम कर दिया जाय कि जिससे मुद्रा की विनिमय-शक्ति बढ़ जाय और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिर जाएँ।" दूसरे शब्दों में मुद्रा-संकुचन एक ऐसा साधन है जिससे मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बढ़ा दिया जाता है और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिरा दिए जाते हैं। इसके द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है।

(ब) मुद्रा-संकुचन की विधि—कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हो जाते हैं और लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है तो सरकार मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के लिए मुद्रा-संकोच करने लगती है और धीरे-धीरे इतनी अधिक मात्रा में मुद्रा संकुचित हो जाती है कि मुद्रा की मात्रा उसकी आवश्यकता से बहुत अधिक कम हो जाती है। मुद्रा-संकुचन कई प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) या तो सरकार देश में चलने वाले अपरिवर्तनीय नोटों को रद्द कर देती है जिससे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

(२) या जनता पर भारी-भारी टैक्स लगाकर मुद्रा को चलन में से खींच लिया जाता है।

(३) या देश का केन्द्रीय-बैंक अपनी कटौती (Discount Rate) बढ़ाकर मुद्रा-संकुचन करता है।

(४) या केन्द्रीय-बैंक जनता से ऋण लेकर चलन में मुद्रा की मात्रा कम कर देता है और या वह अपनी 'खुली बाज़ार क्रियाओं' (Open Market Operations) द्वारा जनता को सिक्यूरिटीज़ बेच कर बदले में मुद्रा लेकर संचित कर लेता है जिससे चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

(स) मुद्रा-संकुचन एवं मूल्य-स्तर—मुद्रा संकुचन प्रायः मूल्यस्तर को नीचा गिराने के उद्देश्य से किया जाता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा कम की जाती है उसी अनुपात में वस्तुओं के मूल्य नीचे नहीं गिरते वरन् उससे कम अनुपात में मूल्य-स्तर नीचे गिरता है। कभी-कभी कोई सरकार मूल्य-स्तर नीचा करने के उद्देश्य से बहुत अधिक मात्रा में मुद्रा-संकुचन करने लगती है परन्तु इससे उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता और अन्त में उन्हें अपनी वह योजना छोड़ देनी पड़ती है। यदि एक दिन के अन्दर-अन्दर मुद्रा की मात्रा कम करके यह आशा की जाय कि वस्तुओं के मूल्य भी एक दिन में उतने ही कम हो जाएँगे तो यह सोचना बड़ी भारी भूल होगी। वस्तुओं के मूल्य एक ऐसी छूत की बीमारी है जो बढ़ते समय तो बड़ी आसानी से और बहुत जल्दी बढ़ जाती हैं परन्तु जिसे रोक कर नीचे गिराने में कुछ समय लगता है। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध मुद्रा-शास्त्री के ये शब्द याद रखने चाहिएँ :—

"वस्तुओं के मूल्य न तो ऐसी पत्थर की मज़बूत दीवारें हैं जिनको तोड़ कर गिराया ही न जा सके और न मोम की भांति इतनी सरस हैं कि जो थोड़ी गर्मी पाकर ही पिघल कर गिर पड़ें........ मुद्रा की मात्रा वस्तुओं के मूल्य-स्तर की अपेक्षा अधिक लोचदार होती है। मूल्य-स्तर के अनुकूल मुद्रा की मात्रा में फेर-बदल करना सरल है परन्तु मुद्रा की मात्रा के अनुकूल मूल्य-स्तर में घटा-बढ़ी करना अपेक्षाकृत कठिन है।"

(द) मुद्रा-संकुचन के परिणाम—मुद्रा-संकुचन का प्रभाव समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर एक-सा नहीं पड़ता। कुछ लोगों को इससे हानि होती है और कुछ लोगों को इससे लाभ भी होता है। अतः यह देखना है कि लोगों पर इसका कैसा-कैसा प्रभाव पड़ता है :—

(१) व्यापारी वर्ग—मुद्रा-संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्य गिरने से थोक व फुटकर व्यापारियों को हानि होती है—उनकी वस्तुओं के भाव गिर जाते हैं जिससे उनकी आय कम हो जाती है और उनको नुक़सान होने लगता है। व्यापार में हानि होने से बहुत से व्यापार तो नष्टप्राय हो जाते हैं। उद्योगों को भी भारी हानि रहती है। उत्पादन भी कम होने लगता है जिससे बेकारी फैल जाती है। मुद्रा-संकुचन से लेनदार को लाभ और देनदार को हानि होती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य बढ़ने से देनदार को अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

(२) वेतन-भोगी वर्ग—वस्तुओं का भाव नीचा होने से मज़दूरों तथा निश्चित वेतन पाने वाले लोगों को लाभ होता है क्योंकि अब वे अपनी आय के बदले में अधिक वस्तुएँ ख़रीद सकते हैं। परन्तु यदि इनके वेतन में कमी कर दी जाय तो इनको लाभ नहीं रहता। प्रायः वस्तुओं के मूल्य गिरते ही बेकारी-सी फैलने लगती है। मालिक अपने नौकरों की छटनी करने लगते हैं या उनका वेतन कम कर देते हैं। ऐसी स्थिति में वेतन-भोगियों को अधिक लाभ नहीं रहता।

(३) अन्य वर्ग—अन्न के भाव अधिक गिर जाते हैं जिससे कृषकों को बहुत हानि रहती है। उन्हें अपना माल सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है। माल का लागत व्यय कम होने से देश का माल विदेशों में सस्ता हो जाता है जिससे अपने निर्यात् बढ़ने लगते हैं। उपभोक्ताओं को वस्तुओं के भाव नीचे होने से लाभ रहता है। सरकारी बजट असन्तुलित हो जाते हैं। देश में बेकारी फैल जाती है और आर्थिक दशा बिगड़ जाती है।

सारांश यह है कि मुद्रा-संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्य घटने से देश का व्यापार, उद्योग, कृषि एवं उत्पादन के अन्य स्रोत सूखने लगते हैं जिससे देश की प्रगति रुक जाती है और आर्थिक विकास मन्द पड़ जाता है। किसी ने कहा है कि मानव समाज पर समय-समय पर अनेक विपत्तियां आती हैं जैसे युद्ध, भयङ्कर रोग, अकाल, राजनैतिक संकट आदि। परन्तु इन सब से अधिक भयङ्कर विपत्ति मुद्रा-संकुचन की है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के भाव शनैः-शनैः कम होते जाते हैं जिससे व्यापार मन्द पड़ जाता है, उद्योग बन्द होने लगते हैं, समाज की प्रगति रुक जाती है, आर्थिक कलेवर छिन्न-भिन्न होने लगता है, तथा देश का सम्पूर्ण ढांचा बिगड़ जाता है।

जैसा कि पहिले कहा गया है कभी-कभी मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति के दोषों को दूर करने के लिए किया जाता है। परन्तु इससे यह उद्देश्य अधिक अंश में पूरा नहीं हो पाता। मुद्रा-संकुचन से तो कुछ कठिनाइयां और पैदा हो जाती हैं। रोग का

निदान उसके बढ़ने का कारण बन जाता है। यदि मुद्रा-स्फीति के कारण पैदा हुए ऊँचे भावों को घटाने के उद्देश्य से मुद्रा-संकुचन किया जाता है तो धीरे-धीरे भाव इतने नीचे चले जाते हैं कि व्यापार की स्थिति संभालना कठिन हो जाता है। अतः मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति से कोई कम भयङ्कर रोग नहीं होता।

(य) मुद्रा-संकुचन का काल—१९२० से १९३० तक की दशाब्दी व १९३०-४० की दशाब्दी मुद्रा-संकुचन के युग कहे जाते हैं। हमारे देश में पहिली दशाब्दी में मुद्रा-संकुचन की नीति काम में लाई गई जिसके अन्तर्गत लगभग ६० करोड़ रुपये का संकुचन किया गया था। इसी समय इटली और फ्रांस में भी मुद्रा-संकुचन किया गया था। इटली की सरकार ने १९३१ और १९३५ में दो बार मुद्रा-संकुचन किया। फ्रांस में १९३५ में मुद्रा-संकुचन किया गया था परन्तु वहां जनता के विरोध के कारण यह अधिक सफल नहीं हो सका।

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन
(Inflation and Deflation)

अब तक हमने मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के रूप, कारण तथा समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर उनके परिणामों का अध्ययन किया। हमने देखा कि मुद्रा का मूल्य घटने-बढ़ने या वस्तुओं के भाव बढ़ने-घटने से समाज के सभी वर्गों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। वस्तुओं के भाव बढ़ने से व्यापार, व्यापारी तथा उद्योगपति को लाभ होता है तो वेतन-भोगियों तथा उपभोक्ताओं को हानि रहती है। इसी प्रकार वस्तुओं के भाव घटने से यदि उपभोक्ताओं को लाभ होने की आशा होती है तो इससे व्यापार और व्यापारी बिगड़ जाते हैं, उत्पादन कम होने लगता है, उद्योगों के द्वार बन्द होने लगते हैं और बेकारी की समस्या सामने आ जाती है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति में व्यापार में भ्रष्टाचार फैलता है तो मुद्रा-संकुचन से व्यापार ठप्प होने लगता है। अतः मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन दोनों ही समाज को हानिकारक होते हैं। प्रो० कीन्स ने लिखा है कि "मुद्रा-स्फीति अन्याय पूर्ण है तो मुद्रा-संकुचन अनावश्यक है" (Inflation is unjust and Deflation is inexpedient)। प्रो० सेलिग्मैन का भी कहना है कि "चढ़ते हुए तथा गिरते हुए भावों के कारण देश के आर्थिक कलेवर में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार और उद्योग की स्थिति डावांडोल हो जाती है और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को विषम अनुपात में लाभ और हानि होती है। ऊँचे और नीचे भावों से इतनी हानि नहीं होती जितनी नरंतर ऊँचे चढ़ते हुए नीचे गिरते हुए भावों से हानि होती है।" अतः यह सच है कि वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता नहीं रहनी चाहिए। न तो ऊँचे चढ़ते हुए भाव समाज को हितकर होते हैं और न गिरते हुए भावों से ही समाज को कोई लाभ होता है। समाज के हित में तो यह आवश्यक है कि जहां तक हो सके मूल्य स्तर स्थाई बना रहे और मूल्य

धीरे-धीरे और थोड़े-थोड़े ऊँचे बढ़ते रहें। इससे कृषि, व्यापार और उद्योग—सभी में स्थायित्व पैदा होता है और प्रगति होने की भी आशा बनी रहती हैं। गिरते हुए भाव न तो व्यापार को प्रगति देते हैं और न इससे मज़दूरों का ही हित होता है। अतः प्रत्येक सरकार का यह कर्तव्य है कि वह देश में वस्तुओं के भावों को स्थिर और स्थाई बनावे और उसी में समाज का कल्याण है।

(३) मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)

(अ) द्वितीय युद्ध-काल में 'मुद्रा-अपस्फीति' नामक यह शब्द प्रयोग में आने लगा है। वह मुद्रानीति जो देश में मुद्रा-स्फीति को रोक कर उसके दोषों को दूर करने के लिए काम में लाई जाय 'मुद्रा-अपस्फीति' की नीति कहलाती है। हमारे देश में युद्धकाल में मुद्रा-स्फीति ने बड़ा प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था—वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे थे, मुद्रा की क्रय-शक्ति पाताल में घुसी जा रही थी, व्यापार में तरह-तरह के अनाचार, भ्रष्टाचार, चोर-बाज़ारी तथा घूँसखोरी बढ़ने लगी थी तो उस समय सरकार ने मुद्रा-अपस्फीति नीति का पालन किया। मुद्रा-अपस्फीति नीति के अन्तर्गत सरकार ने निम्न काम किए—

(१) मुद्रा की बढ़ी हुई मात्रा को वापस खींचने के लिए जनता पर नए-नए टैक्स लगाए।

(२) जनता से सरकार ने ऋण लिए।

(३) सरकार ने सोना बेचा जिससे लोग सोना ख़रीद कर बदले में मुद्रा सरकार को वापिस कर दें और जिससे क्रय-शक्ति कम हो जाय।

(४) वस्तुओं के भावों और उनकी बिक्री पर नियन्त्रण लगा दिए।

(५) देश में उत्पादन बढ़ाने की नई-नई सुविधाएँ दी गईं।

(६) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय-सरकारों ने अपने-अपने ख़र्चे कम करके बजट के घाटे पूरा करने की कोशिश की।

(७) चोरी बाज़ारी दूर करने के लिए कड़े-कड़े नियम बनाए गए।

(८) कम्पनियों के लाभांश की दर सीमित कर दी।

(ब) मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन—कुछ लोग समझते होंगे कि मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा संकुचन एक ही सी बात है परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मुद्रा अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति को कम करने के उपाय किए जाते हैं परन्तु मुद्रा संकुचन में वस्तुओं के भावों को गिराने और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ाने के काम किए जाते हैं। दोनों ही नीतियों में मुद्रा की मात्रा कम करनी पड़ती है परन्तु मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा इतनी कम की जाती है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के समानुपात में आ जाय, मुद्रा-संकुचन में मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक कम कर दी जाती है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से भी कम हो जाती है और देश में चारों ओर मन्दी का वायु-

मण्डल हो जाता है। इस प्रकार दोनों नीतियों के उद्देश्यों में अन्तर है और दोनों के परिणामों में भी अन्तर है यद्यपि दोनों की विधि एक ही-सी है।

(४) मुद्रा-संस्फीति (Reflation)

(अ) जब कभी मुद्रा-संकुचन इतनी अधिक मात्रा में कर दिया जाय कि वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक घट जाय तो मूल्य-स्तर को उठाने के लिए मुद्रा-प्रसार किया जाता है इसे मुद्रा-संस्फीति (Reflation) कहते हैं। कोल नामक एक मुद्रा-शास्त्री ने कहा है कि " मन्दी को दूर करने के लिए जान-बूझ कर जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं। मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मन्दी को दूर करके मूल्य-स्तर ऊँचा उठाना होता है। मुद्रा-संस्फीति करने से वस्तुओं के भाव एक-दम एक-साथ ऊँचे नहीं उठते वरन् शनैः-शनैः ऊँचे होते जाते हैं। मन्दी के कारण देश में जो बेकारी फैल जाती है उसे दूर करने के लिए मुद्रा-संस्फीति की जाती है जिससे बेकार लोगों को काम मिल जाय।

(ब) मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति : (Reflation and Inflation)

कुछ लोग समझते होंगे कि मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति एक ही चीज़ है परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह ठीक है कि दोनों परिस्थितियों में मुद्रा-प्रसार किया जाता है परन्तु दोनों के उद्देश्यों में अन्तर है। मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य मन्दी को दूर करके मूल्य-स्तर ऊँचा करना होता है जिससे बेकार लोगों को काम मिल सके और जब यह उद्देश्य पूरा हो जाता है तो मुद्रा-प्रसार करना बन्द कर दिया जाता है। मुद्रा-स्फीति का उद्देश्य एक-साथ मुद्रा की मात्रा बढ़ाना होता है जिसे मूल्य-स्तर एक-दम ऊँचा हो जाता है—इसमें मुद्रा-प्रसार करने की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। मुद्रासं-स्फीति तब-तक की जाती है जब-तक कि देश में पूरा रोज़गार (Full Employment) न हो जाय परन्तु मुद्रा-स्फीति इससे भी आगे तक होती रहती है। मुद्रा-संस्फीति में मूल्य एक-दम एक-साथ ऊँचे नहीं होते परन्तु मुद्रा-स्फीति में मूल्य-स्तर एक-दम ऊँचे होने लगते हैं। संक्षेप में मुद्रा-संस्फीति का परिणाम क्रियात्मक होता है और मुद्रा-स्फीति का परिणाम विनाशकारी होता है। मुद्रा-संस्फीति राष्ट्र और समाज के हित के लिए होती है परन्तु मुद्रा-स्फीति सरकार की स्वार्थसिद्धि के लिए होती है। डा० शर्मा ने लिखा है कि "निठल्ली पूँजी और बेकार श्रमिकों को रोज़गार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-संस्फीति कहते हैं परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं।"

(५) मूल्य-वृद्धि (Appreciation of Money)

जब मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है, तो उसे (Appreciation on Money) या मुद्रा की मूल्य-वृद्धि कहते हैं। यदि पहिले एक रुपया ३ सेर गेहूं ख़रीदता हो

और अब ४ सेर ख़रीदने लगे तो कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य बढ़ गया है। मुद्रा का मूल्य बढ़ने के कई कारण हो सकते हैं--

(१) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जाय।

(२) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय परन्तु वस्तुओं की पूर्ति उसके अनुपात से और भी अधिक बढ़ जाय।

(३) जब वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहे पर मुद्रा की मात्रा कम हो जाय।

लाभ:—मुद्रा की मूल्य-वृद्धि से समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को लाभ मिलता है—

(१) लेनदार को लाभ होता है क्योंकि अब उसको अपने देनदार से अधिक मूल्य मिलता है।

(२) बंधी तनख़्वाह वाले लोगों को भी लाभ होता है क्योंकि उनकी आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है।

हानिः—(१) मुद्रा की मूल्य-वृद्धि होने से वस्तुओं के भाव घट जाते हैं। वस्तुओं के भाव घटने से व्यापारियों को हानि रहती है। उत्पादन कम होने लगता है; उद्योगों के द्वार बन्द होने लगते हैं तथा बेकारी बढ़ने लगती है। पूँजीपतियों तथा उद्योगपतियों को भी हानि रहती है।

(२) देनदार को हानि रहती है। टैक्स भुगतान करने वालों को भी हानि रहती है क्योंकि उन्हें अब उतनी ही मुद्रा देकर भी अधिक मूल्य देना पड़ता है।

यहाँ हमें शनैः-शनैः घटने वाले वस्तुओं के मूल्यों व एक-दम तेज़ी से घटने वाले मूल्यों का भेद समझना आवश्यक है। जब भाव एक-साथ घट जाते हैं तो उससे समाज को बड़ी हानि रहती है—उत्पादन एक-दम गिर जाता है और बहुत से मज़दूर एक-साथ बेकार हो जाते हैं। परन्तु जब शनैः-शनैः मूल्य गिरते हैं तो उतनी हानि नहीं होती।

(६) मूल्य-ह्रास (Depreciation of Money)

जब मुद्रा की क्रय-शक्ति घट जाती है तो कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया है। यदि पहिले एक रुपया ३ सेर गेहूं ख़रीदता हो और अब केवल २ सेर ही ख़रीदे तो कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया है। मूल्य-ह्रास होने से वस्तुओं के भाव ऊँचे हो जाते हैं। मूल्य-ह्रास निम्न कारणों से हो सकता है :—

(१) जब मुद्रा की मात्रा उतनी ही रहे परन्तु वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाय।

(२) जब मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय परन्तु वस्तुओं की मात्रा लगभग उतनी ही रहे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसी कारण से इङ्गलैण्ड और भारत में मूल्य-ह्रास हुआ था। द्वितीय युद्धकाल में भी भारत में ऐसा हुआ था।

लाभः—(१) वस्तुओं के भाव बढ़ने से व्यापारियों और उद्योगियों के लाभ बढ़ जाते हैं जिससे व्यापार को भी प्रगति मिलती है। उत्पादकों को भी लाभ मिलता है क्योंकि उनका माल अब ऊँचे भावों पर बिकने लगता है। उत्पादन में वृद्धि होती है और श्रमिकों के रोज़गार भी बढ़ जाते हैं।

(२) वस्तुओं के सामान्य भाव बढ़ने से उत्पादन के नए-नए स्त्रोत निकलने लगते हैं। प्रो० इलाई का कहना है कि "चढ़ते हुए भावों से उत्पादन को नया प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन के नए-नए साधन और नए-नए स्त्रोत निकल आते हैं।

(३) लेनदार को हानि और देनदार को लाभ होता है क्योंकि मुद्रा की क्रय-शक्ति गिर जाने से लेनदार को अपने देनदार से कम मूल्य मिलता है यद्यपि देनदार उतनी ही राशि लौटाता है जितनी उसने ली थी।

हानिः—(१) मुद्रा के मूल्य-ह्रास के कारण वस्तुओं के भाव चढ़ने से व्यापार में अधिक लाभ होता है जिससे सट्टेख़ोरी और मुनाफ़ाख़ोरी बढ़ने लगती है। उत्पादक उत्पादन बढ़ाने में लग जाते हैं जिससे उत्पादन की कुशलता कम होने लगती है और उत्पादनाधिक्य हो जाता है।

(२) उपभोक्ताओं को हानि होती है क्योंकि वस्तुओं के भाव बढ़ जाने के कारण अब उन्हें अधिक चुकाना पड़ता है।

(३) बंधी तनख़्वाह वाले लोगों को हानि रहती है क्योंकि वस्तुओं के भाव तो बढ़ जाते हैं परन्तु उनका वेतन उतना नहीं बढ़ता। उन्हें अपना जीवन-स्तर निभाना दूभर हो जाता है।

(७) आदर्श मूल्य-स्तर की कल्पना

कुछ लोगों का विश्वास है कि चढ़ते हुए मूल्य-स्तर देश और समाज के हित में होते हैं क्योंकि उसके द्वारा देश में उत्पादन बढ़ने लगता है। श्रमिकों का रोज़गार बढ़ जाता है और पूँजी लगाने के नए-नए स्त्रोत निकल आते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग सोचते हैं कि गिरते हुए मूल्य-स्तर समाज के हित में होते हैं। परन्तु इन दोनों विचार धाराओं में से किसी को भी आदर्श मूल्य-स्तर की कल्पना नहीं कह सकते। कैसल, कीन्स तथा हार्टले व्हिदर्स नामक विख्यात अर्थशास्त्रियों का कहना है कि न तो चढ़ते हुए मूल्य अच्छे होते हैं और न गिरते हुए मूल्य-स्तर ही आदर्श कहे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि स्थाई और स्थिर मूल्य-स्तर ही समाज के हित में हो सकते हैं क्योंकि स्थाई मूल्य-स्तरों से व्यापार, उद्योग, लेनदार, देनदार व उत्पादन की अनिश्चितता दूर हो जाती है। स्थाई मूल्य-स्तर से ही उत्पादन, व्यापार, रोज़गार तथा उद्योगों में स्थिरता और स्थायित्व आती है। परन्तु यह विचार-धारा भी आज के युग में सर्वथा सत्य नहीं कही जा सकती। आज के युग में धीरे-धीरे और थोड़े-थोड़े चढ़ते हुए मूल्य-स्तर ही आदर्श माने जाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती और आर्थिक कलेवर में प्रगति आती है।

(७) अवमूल्यन [Devaluation]

(अ) अर्थ:—सितम्बर १६४६ से लोगों की जिह्वा पर 'अवमूल्यन' शब्द भी प्रयोग में आने लगा है। अतः यहां इसका विवेचन कर देना भी उचित जान पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-क्षेत्र में देशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा के अनुपात में मूल्य-ह्रास करने में 'अवमूल्यन' शब्दका प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि जब देशीमुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा के अनुपात में अपेक्षाकृत कम कर दी जाय तो देशी मुद्रा का अवमूल्यन समझा जायगा। मान लो, १ रुपया अमेरिका के ३० सेंट के बराबर था—अब उसका मूल्य ३० सेंट से घटाकर २१ सेंट कर दिया गया तो कहेंगे कि डालर के अनुपात में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया है।

(ब) कारण:—मुद्रा का अवमूल्यन देश की आन्तरिक परिस्थिति के कारण नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों से वाध्य होकर किया जाता है। जब कभी किसी देश का निर्यात व्यापार कम हो जाता है और देश का आन्तरिक मूल्य-स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि विदेशों में निर्यात करना दूभर हो जाय तो निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से देश की मुद्रा का अन्य देश (जिसमें निर्यात बढ़ाना हो) की मुद्रा में अवमूल्यन कर दिया जाता है। अवमूल्यन करने से विदेशी मुद्रा में देशी मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है जिसके फल-स्वरूप निर्यात बढ़ने लगते हैं। जब कभी किसी देश को आयात करने की आवश्यकता हो परन्तु आयात के बदले में चुकाने के लिए विदेशी मुद्रा या सोना न हो और देश के मूल्य-स्तर इतने ऊँचे हों कि विदेशों में निर्यात भी न किया जा सके तो मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात बढ़ा कर विदेशी मुद्रा कमाई जाती है जिससे आयात करने में सुविधा हो। मुद्रा का अवमूल्यन एक ऐसी रहस्यमय विधि है जिसके द्वारा एक देश (जिसकी मुद्रा का अवमूल्यन किया गया है) का माल दूसरे देश (जिसकी मुद्रा के अनुपात में एक मुद्रा का अवमूल्यन किया गया है) में सस्ते भावों पर पहुँचाया जाता है। किसी देश का निर्यात बढ़ाने के लिए अवमूल्यन एक सस्ता तरीक़ा है।

(स) प्रभाव:—देश के आर्थिक कलेवर पर अवमूल्यन के ये प्रभाव पड़ते हैं:—

(अ) निर्यात बढ़ जाते हैं।

(ब) आयात महँगे हो जाते हैं जिससे आयात व्यापार में कमी होने लगती है।

(स) आयात महँगे होने से देश का मूल्य स्तर बढ़ने लगता है।

(द) रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Rupee)

१६ सितम्बर १६४६ को भारत सरकार ने स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का डॉलर के अनुपात में ३०.५% अवमूल्यन किया। अवमूल्यन से पहिले एक रुपया कोई ३० सेंट के बराबर था जो अवमूल्यन के पश्चात् कोई २१ सेंट के बराबर रह गया। बात यह थी कि भारत को डालर-क्षेत्र से अन्न तथा मशीनों आदि पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता थी परन्तु इनका मूल्य चुकाने के लिए भारत सर-

कार के पास न डॉलर थे और न सोना था। भारत के मूल्य-स्तर इतने ऊँचे थे कि डॉलर-क्षेत्र के देश विशेषतः अमेरिका हमारे बाज़ारों से माल नहीं ख़रीद पाते थे। वस्तुतः हमारे निर्यात लगभग बन्द ही से थे जिसमें हम डॉलर कमाने में भी असमर्थ थे। देश का मूल्य-स्तर नीचा करना कठिन था। अतः भारत सरकार ने रुपये का डॉलर-मूल्य कम कर दिया जिससे भारत का निर्यात बढ़ सके और उसके द्वारा डालर कमाकर आवश्यक आयात कर सकें। भारतीय रुपये के साथ-साथ कोई २४ अन्य देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का डॉलर-मूल्य कम किया क्योंकि सभी के सामने निर्यात बढ़ाने की समस्या थी। (अवमूल्यन के परिणामों के लिए आगे पढ़िए।)

* इसके विस्तृत वर्णन के लिए लेखक की 'भारतीय मुद्रा का इतिहास' नामक पुस्तक देखिए अथवा इसी पुस्तक में आगे पढ़िए।

प्रश्न

१. मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है? सविस्तार लिखिए।

२. 'मुद्रा-स्फीति तथा 'मुद्रा संकुचन' से आप क्या समझते हैं? उत्तर मीमांसा सहित लिखिए।

३. 'मुद्रा-स्फीति के क्या कारण होते हैं? समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है? हमारे देश की परिस्थिति से उदाहरण देकर समझाइए।

४. "मुद्रा-स्फीति अन्याय पूर्ण होती है और मुद्रा-संकुचन अनावश्यक होता है।" (Inflation is unjust and Deflation is inexpedient) इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. 'मुद्रा-अपस्फीति' से आपका क्या अर्थ है? भारत सरकार ने युद्धकाल में मुद्रा अपस्फीति के लिए कौन-कौन काम किए? क्रमानुसार लिखिए।

६. मुद्रा की मूल्य-वृद्धि (Appreciation) और मूल्य-ह्रास (Depreciation) से आपका क्या तात्पर्य है? समाज पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है?

७. 'अवमूल्यन' किसे कहते हैं? यह क्यों किया जाता है? सितम्बर १६४६ में भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन क्यों किया था?

८. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ समझाकर लिखिए:—

(अ) मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)।

(ब) मुद्रा-संस्फीति (Reflation)।

(स) अवमूल्यन (Devaluation)।

९. भेद समझाइये:—

(अ) मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन (Disinflation and Deflation)।

(ब) मुद्रा-संस्फीति और मुद्रा-स्फीति (Reflation and Inflation)।

(स) मूल्य-ह्रास और अवमूल्यन (Depreciation and Devaluation)।

अध्याय ९

मुद्रा का मूल्य (क्रमशः)

मुद्रा की क्रय-शक्ति मापने की विधि

निर्देशांक [Index Numbers]

पिछले अध्याय में बताया गया था कि मुद्रा का मूल्य घटने-बढ़ने से उसका समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है। यहां हम मुद्रा की क्रय-शक्ति या वस्तुओं के मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को मापने की विधि का अध्ययन करेंगे। मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को मापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि मुद्रा की क्रय-शक्ति में घटा-बढ़ी होने से कुछ लोगों को लाभ होता है तो अन्य लोगों को बड़ी भारी हानि होती है। अतः यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापते रहें और उसमें आवश्यक समायोजन (Adjustment) करते रहें तो समाज में इस प्रकार की विषमता कुछ सीमा तक दूर की जा सकती है। भावी लेन-देन के व्यवहारों की सुविधा के लिए मुद्रा का मूल्य मापना बहुत ही आवश्यक है। मुद्रा की क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को ज्ञात करके हम भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न २ वर्षों की मनुष्यों की आय (Incomes) और मज़दूरों की मज़दूरी (Wages) की वास्तविकता का मुक़ाबला कर सकते हैं। मुद्रा की क्रय-शक्ति को मापकर दो देशों की आर्थिक स्थिति का तुलनात्मक ज्ञान किया जा सकता है और तब सामाजिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु एक बात है। मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होते हैं उनको ठीक-ठीक मापने की कोई भी विधि नहीं है। हाँ, मूल्य-स्तर में होने वाली घटा-बढ़ी का सामान्य अनुमान एक विधि द्वारा लगाया जा सकता है जिसे मूल्य-निर्देशांक (Price Index Numbers) कहते हैं। मूल्य-निर्देशांकों के द्वारा हम एक काल के मूल्य-स्तरों की तुलना दूसरे काल के मूल्य-स्तरों से करते हैं। दूसरे शब्दों में यह समझना चाहिए कि 'मूल्य-निर्देशांक' एक काल से दूसरे काल में वस्तुओं के मूल्य में होने वाले प्रतिशत औसत परिवर्तन को दर्शाते हैं। जब वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है तब सब वस्तुओं का मूल्य एक-सा नहीं घटता-बढ़ता। किसी वस्तु का मूल्य बहुत

बढ़ता है तो किसी का कम; और किसी का मूल्य घट भी जाता है। इसलिए यह निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है कि किसी एक स्थान में वस्तुओं का सकल मूल्य कितना बढ़ा या कितना घटा ? यदि हमें यह ज्ञान करना हो कि देश-भर में वस्तुओं के मूल्य में कितनी घट-बढ़ हुई तो यह समस्या और भी जटिल रूप धारण कर लेती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वस्तुओं के मूल्य भिन्न-भिन्न प्रकार से बदलते रहते हैं परन्तु यदि किसी भी समय इन मूल्यों की हम दूसरे काल के मूल्यों से तुलना करें तो हम देखेंगे कि ऐसी अवस्था में मूल्यों का सामान्य-स्तर एक ही दिशा में होगा, या तो सामान्य-स्तर में चढ़ाव होगा या उतार होगा। मूल्य-स्तर के इस सामान्य चढ़ाव-उतार को मूल्य-निर्देशांक बनाकर नापा जाता है।

मूल्य-निर्देशांकों के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं :—(१) वस्तुओं के मूल्य के सामान्य परिवर्तन को दर्शाना और (२) इस परिवर्तन का विभिन्न श्रेणियों के लोगों पर हुए प्रभाव को समझाना। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो निर्देशांक तैयार किए जाते हैं वे सब प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों में हुए परिवर्तनों के आधार पर तैयार किए जाते हैं और दूसरे उद्देश्य की पूर्ति करने वाले निर्देशांक उन वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तन के आधार पर बनाए जाते हैं जो वस्तुएं उस विशिष्ट श्रेणी की जनता के द्वारा उपयोग में लाई जाती हैं।

निर्देशांकों का प्रयोग केवल वस्तुओं का मूल्य-स्तर मापने के लिए ही नहीं वरन् देश की वस्तुओं के उत्पादन में घट-बढ़ जानने के लिए, देशवासियों की आर्थिक दशा में परिवर्तन समझने के लिए तथा मज़दूरों की मज़दूरी की घट-बढ़ एवं उसका प्रभाव समझने के लिए भी किया जाता है। इस अध्याय में हम विशेषतः वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांकों (Price Index Numbers) के बारे में ही विचार करेंगे।

मूल्य-निर्देशांक बनाने की विधियाँ

मूल्य-निर्देशांक प्रायः दो प्रकार से बनाए जाते हैं—

(अ) सामान्य निर्देशांक (General Index Numbers)

(ब) भारशील निर्देशांक (Weighted Index Numbers)

सामान्य निर्देशांक बनाने की विधि:—(१) सामान्य निर्देशांक बनाने के लिए सबसे पहिले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हमें किस वर्ष के मूल्य-स्तरों से तुलना करना है। इसके लिए सामान्यतः एक ऐसा वर्ष चुन लिया जाता है जिसमें कोई ऐसी विषम घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तुओं के मूल्यों में कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो। यह वर्ष ऐसा हो जिसमें वस्तुओं के मूल्यों में कोई असाधारण उतार-चढ़ाव न हुए हों। इस वर्ष को आधार-वर्ष (Base Year) कहते हैं।

उदाहरणार्थ, यदि हमें गत महायुद्ध के वस्तुओं के मूल्य-वृद्धि के विषय में जानना हो तो हम सन् १९३८-३९ को आधार-वर्ष मान लेंगे और उसी वर्ष के मूल्य-स्तर के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्य-स्तरों की तुलना करेंगे। कभी-कभी तुलना के लिए एक भी ऐसा आधार-वर्ष नहीं मिलता जिसमें कोई विषम घटना न घटी हो या कोई अन्य असाधारण बात न हुई हो। ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष, पांच वर्ष या सात वर्ष का औसत-मूल्य (Average Price) आधार मान लिया जाता है और इसी औसत-मूल्य के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना की जाती है। आधार-वर्ष की विभिन्न वस्तुओं का मूल्य १०० कल्पित कर लिया जाता है और इस कल्पना के पश्चात् उनके योग को वस्तुओं की क्रम-संख्या से भाग लेने के बाद जो भागफल आता है वह आधार-वर्ष का निर्देशांक होता है। (देखिए तालिका १ कॉलम ४)।

(२) आधार-वर्ष निश्चित कर लेने के पश्चात् यह जान लेना चाहिए कि निर्देशांक में किन-किन वस्तुओं के मूल्यों का समावेश हो। वैसे तो बाज़ार में सहस्रों प्रकार की वस्तुएं आती हैं; और यदि सब वस्तुओं के मूल्य प्रति दिन और प्रति स्थान से ज्ञात करने का प्रयत्न किया जाय तो कार्य असम्भव हो जायगा। अतएव कुछ ऐसी वस्तुएं चुन ली जाती हैं जो प्रायः सब जगह सभी के उपयोग में आती रहती हैं।

(३) वस्तुएं चुन लेने के पश्चात् यह जानना चाहिए कि निर्देशांक बनाने में उन वस्तुओं का थोक-मूल्य (Wholesale Price) काम में लाया जाय या फुटकर-मूल्य (Retail Price) काम में लाया जाय। मूल्य उस स्थान विशेष से प्राप्त किए जाने चाहिए जहां उस वस्तु का क्रय-विक्रय बहुत अधिक मात्रा में होता हो। अतएव प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग स्थान चुन लिया जाता है। चुने हुए स्थानों से चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य एकत्र करते समय इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि मूल्य सदा उतरती श्रेणी की उसी वस्तु विशेष का लिया जाय। यदि युद्ध अथवा अन्य किसी कारण से किसी वस्तु के मूल्य का सरकार द्वारा नियन्त्रण किया गया हो तो नियंत्रित मूल्य न देकर वह मूल्य लेना चाहिए जिस पर वह वस्तु साधारणतः उपभोक्ताओं को मिलती हो। जहां तक सम्भव हो सके वस्तुओं के वास्तविक मूल्य जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

उदाहरणः—मान लीजिए कि हमें १९३९ और १९५१ के मूल्य-स्तरों की तुलना करनी है। १९३९ में गेहूँ का भाव ५ रुपये प्रति मन, शकर का भाव २० रुपये प्रति मन, कोयला ३ रुपये प्रति मन तथा घी ४० रुपये प्रति मन था और इन्हीं वस्तुओं की क़ीमतें आज १९५१ में क्रमशः २० रुपये प्रति मन, ८० रुपये प्रति मन, १२ रुपये प्रति मन तथा १२० रुपये प्रति मन हैं—तो इनके निर्देशांक निम्न प्रकार होंगेः—

क्रम-संख्या	वस्तुएँ	मूल्य-स्तर १६३६ (आधार-वर्ष)		मूल्य-स्तर १६५१ अभीष्ट-वर्ष	
		वास्तविक मूल्य प्रति मन	निर्देशांक (कल्पित)	वास्तविक मूल्य प्रति मन	निर्देशांक
१	गेहूँ	५ रुपये	१००	२० रुपये	४००
२	शकर	२० "	१००	८० "	४००
३	कोयला	३ "	१००	१२ "	४००
४	घी	४० "	१००	१२० "	३००
	योग		४०० ÷ ४		१५०० ÷ ४
	मूल्य-स्तर निर्देशांक		१००		३७५

तालिका नं० १

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि १६३६ की अपेक्षा १६५१ में गेहूँ की क़ीमत चौगुनी, शकर की क़ीमत चौगुनी, कोयला की भी चौगुनी तथा घी की क़ीमत तिगुनी हो गई थी। अतः १६३६ की अपेक्षा १६५१ का निर्देशांक ४००, ४००, ४०० तथा ३०० होंगे। इनका योग १५०० होगा और वस्तुओं की क्रम-संख्या अर्थात् ४ से भाग देने पर भागफल ३७५ हुआ। यही १६५१ का मूल्य-निर्देशांक है। इससे यह बात ज्ञात होती है कि १६३६ की अपेक्षा १६५१ का मूल्य-स्तर ३७५ हो गया है।

भारशील निर्देशांक बनाने की विधि:—निर्देशांक बनाने के लिए जब कुछ वस्तुएँ चुनी जाती हैं तो उन सब वस्तुओं का एक-सा महत्त्व नहीं होता। उनमें से कुछ वस्तुओं का महत्त्व अधिक होता है तथा कुछ का अपेक्षाकृत कम होता है। इसी महत्त्व के अनुसार निर्देशांक के लिए चुनी हुई प्रत्येक वस्तु के लिए कुछ "भार-अंक" निर्धारित कर दिए जाते हैं जिन्हें Weights कहते हैं। जिस वस्तु का उपभोग में अधिक महत्त्व होता है उसको अधिक भार-अंक (Weights) नियत किए जाते हैं और जिसका कम महत्त्व होता है उसको कम भार-अङ्क (Weights) नियत किए जाते हैं। वस्तुओं को भार-अंक निर्धारित करने का आशय यह होता है कि जीवन में जिस वस्तु का अधिक महत्त्व होता है उसकी क़ीमत में परिवर्तन होने से रहन-सहन के स्तर में अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि उस वस्तु पर मनुष्य की आय का अधिकांश भाग व्यय होता है। किन्तु जो वस्तुएँ कम महत्त्व

की होती हैं उन पर कम व्यय होता है और उनकी क़ीमत में परिवर्तन होने पर रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन होने की कम सम्भावना रहती है।

उदाहरण:—मान लीजिए, हमारे पिछले उदाहरण में जो वस्तुएँ चुनी गई हैं उनका महत्त्व क्रमानुसार इस प्रकार है—गेहूँ, शकर, कोयला और घी। इसी महत्त्व के अनुसार हम प्रत्येक वस्तु को क्रमानुसार ४, ३, २, १ का भार-अंक या (Weight) निर्धारित करते हैं। १९३९ के मूल्यों को हम १०० कल्पित करके उनको प्रत्येक वस्तु के भार-अंक से गुणा करेंगे और फिर जो योग होगा वह आधार-वर्ष का भारशील निर्देशांक होगा। इसी प्रकार हम १९५१ के मूल्यों के साथ करेंगे जैसे—

क्रम संख्या	वस्तु	मूल्य-स्तर १९३९ (आधार वर्ष)			मूल्य-स्तर १९५१		
		वास्तविक मूल्य (प्रति मन)	भारअंक	भारशील मूल्य	वास्तविक मूल्य (प्रति मन)	आधार-वर्ष से तुलनात्मक मूल्य	भारशील मूल्य
१	गेहूँ	५ रुपये	४	४००	२० रुपये	४००	४००×४=१६००
२	शकर	२० "	३	३००	८० "	४००	४००×३=१२००
३	कोयला	३ "	२	२००	१२ "	४००	४००×२=८००
४	घी	४० "	१	१००	१२० "	३००	३००× =१३००
	योग		१०	१००० ÷ १०			३९०० ÷ १०
	भारशील निर्देशांक—→			१००			३९०

तालिका नं० २

उपर्युक्त तालिका के भारशील निर्देशांकों से स्पष्ट होता है कि १९३९ और १९५१ के मूल्य-स्तरों में भारी अन्तर था। १९५१ के मूल्य-स्तर १९३९ की अपेक्षाकृत ३९० प्रतिशत अधिक बढ़े हुए थे।

सामान्य और भारशील मूल्य-निर्देशांकों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोनों में बहुत अधिक अन्तर है। इसका यह कारण हो सकता है कि हमने विभिन्न वस्तुओं के जो भार-अंक (Weights) निर्धारित किए हैं वे उनके वास्तविक महत्त्व से अधिक व कम हों। अतः भारशील निर्देशांक अधिक विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते और सामान्यतः इनका प्रयोग भी कम ही किया जाता है। सामान्य-निर्देशांकों द्वारा हम मूल्य-स्तरों के वास्तविक उलट-फेर का सही-सही अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु इनको बनाते समय वस्तुओं का चुनाव ठीक होना तथा उनकी क़ीमतों का सही-सही पता लगाना आवश्यक है। सामान्य-निर्देशांक

बनाने में जितनी अधिक वस्तुएँ चुनी जाएँगी उतने ही अधिक विश्वसनीय निर्देशांक प्राप्त हो सकेंगे।

निर्देशांक बनाने में सावधानी की आवश्यकता ?

निर्देशांक बनाते समय निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए:—

(१). आधार-वर्ष का चुनाव :—आधार-वर्ष चुनने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। यह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमें कोई ऐसी विषम घटना न घटी हो जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य में विशेष परिवर्तन हुआ हो। उस वर्ष में कोई असाधारण बात न होनी चाहिए। आधार-वर्ष का चुनाव प्रायः निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर होता है। युद्ध से पहिले तथा युद्ध-काल व युद्ध के पश्चात् के मूल्य-स्तरों की तुलना करने के लिए १९३९ का आधार-वर्ष अधिक उपयोगी हो सकता है। कभी-कभी तुलना के लिए एक भी ऐसा आधार-वर्ष नहीं मिलता जिसमें कोई असाधारण बात न हुई हो। ऐसी परिस्थिति में तीन वर्ष, पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष का औसत-मूल्य आधार मान लिया जाता है और इसी औसत-मूल्य के आधार पर अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना की जाती है।

(२) वस्तुओं का चुनाव :—निर्देशांक बनाने में कौन-सी वस्तुएँ सम्मिलित की जांय, इसमें भी सावधानी की आवश्यकता है। वस्तुओं का चुनाव प्रायः निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर होता है। अतः वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएं जिनसे निर्देशांक बनाने का उद्देश्य पूरा हो सके। प्रायः ऐसी वस्तुएँ चुननी चाहिएं जो सर्वत्र सभी के उपयोग में आती हों। चुनी हुई वस्तुओं की कोटि (quality) भिन्न-भिन्न वर्षों में वही रहनी चाहिए।

(३) वस्तुओं के मूल्यों का समावेश :—चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। थोक-मूल्य हों अथवा फुटकर-मूल्य हों, यह बात निर्देशांक के उद्देश्य पर निर्भर होती है। यदि रहन-सहन का स्तर ज्ञात करना हो तो फुटकर-मूल्य लेने चाहिएं और यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जानकारी करनी हो तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाले मूल्य ज्ञात करने चाहिए। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस स्थान विशेष से प्राप्त करना चाहिए जहां उस वस्तु का क्रय-विक्रय बहुत अधिक परिमाण में होता हो। चुने हुए स्थानों से चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मूल्य सदा उस वस्तु विशेष की उसी कोटि का हो भिन्न-भिन्न कोटियों का नहीं। चोर-बाज़ार में दी जाने वाली वस्तुओं के मूल्य नहीं

लेने चाहिएं। इसी प्रकार सरकार द्वारा नियंत्रित-मूल्य भी नहीं लेने चाहिएं।

(४) 'भार-अंक' निर्धारित करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। उपभोग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु का भार-अङ्क (weight) सबसे अधिक और कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के भार-अङ्क कम होने चाहिएं।

(५) मूल्य तथा भार-अङ्कों के जोड़ने-घटाने तथा गुणा-भाग करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। औसत-मान भी ध्यान-पूर्वक निकालना चाहिए।

निर्देशांक बनाने में अड़चनें

ऊपर लिखी हुई सब प्रकार की सावधानी रखते हुए भी निर्देशांक बनाने में कुछ ऐसी अड़चनें आती हैं जिनके कारण सच्चे और वास्तविक निर्देशांक तैयार नहीं हो पाते और इसलिए इनके प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है। मुख्य अड़चनें निम्न हैं :—

(१) ऐसा आधार-वर्ष मिलना बहुत कठिन है जिसमें कोई भी विषम परिस्थिति न आई हो और कोई असाधारण घटना न घटी हो।

(२) आधार-वर्ष के मूल्य-स्तरों की अन्य वर्षों के मूल्य-स्तरों से तुलना करना कठिन होता है क्योंकि कई-कई वर्षों के बाद वस्तुओं की कोटि (Quality) बदलती रहती है।

(३) निर्देशांकों के द्वारा भिन्न-भिन्न देशों के मूल्य-स्तरों की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों में आधार-वर्ष, वस्तुओं का चुनाव तथा वस्तुओं के मूल्य ज्ञात करने के साधन भिन्न-भिन्न होते हैं।

(४) निर्देशांक मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन को अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर को सही-सही नहीं दर्शाते क्योंकि वे केवल मूल्य-स्तर का औसत-मान बताते हैं तथा मुद्रा-प्रसार एवं मुद्रा-संकुचन से होने वाले परिणामों को नहीं बता सकते। निर्देशांकों के द्वारा मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन सही-सही नहीं मापे जा सकते, केवल उनका अनुमान लगाया जा सका है। परन्तु यह निर्देशांकों का दोष नहीं कहा जा सकता। मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों को तो मापना असम्भव ही है। राबर्टसन ने लिखा है कि "मुद्रा के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को सही-सही मापना न सैद्धान्तिक दृष्टि से और न प्रत्यक्ष व्यवहार में ही सम्भव है"।* प्रो० मार्शल का भी यही विचार है उन्होंने

*"Neither in practice nor perhaps in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money".

—Robertson.

लिखा है कि "क्रय शक्ति का सही-सही नाप लेना असम्भव ही नहीं वरन् विचारणीय भी नहीं है"।※

निर्देशांकों की उपयोगिता

(१) निर्देशांकों के द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति के घटत-बढ़त का सामान्य अनुमान लगाया जा सकता है और फिर इन अनुमानों के द्वारा देश के रहन-सहन के स्तर को भली-भांति पहिचाना जा सकता है।

(२) निर्देशांकों के द्वारा मज़दूरों की मज़दूरी के स्तर को आंका जा सकता है। जीवन-व्यय सम्बन्धी निर्देशांक बनाकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि मज़दूरों को वास्तविक-मज़दूरी (Real Wages) घट रही है या बढ़ रही है। और फिर आवश्यकतानुसार मज़दूरी में समायोजन (Adjustment) किया जा सकता है।

(३) निर्देशांकों के द्वारा वस्तुओं का औसत-मूल्य ज्ञात करके उसमें आवश्यक उटल-फेर किया जा सकता है और तब उनको स्थिर बनाया जा सकता है।

(४) दीर्घ-कालीन ऋणों के भुगतान में समता और सन्तुलन लाने के लिए भी निर्देशांकों का उपयोग होता है। क्योंकि इनके द्वारा क्रय-शक्ति के उतार-चढ़ाव ज्ञात हो सकते हैं। अतः उनकी सहायता से उधार लेने वाला उधार लिए जाने वाली रक़म में ऐसे उलट-फेर कर सकता है जिससे उसे अधिक हानि न हो।

(५) थोक-मूल्य-निर्देशांकों (Wholesale Price Index Numbers) के द्वार वस्तुओं के मूल्य-स्तर का सामान्य रुख़ ज्ञात किया जा सकता है। और तब उसके आधार पर चलने में आई हुई मुद्रा का समुचित संचालन किया जा सकता है। यदि थोक-मूल्य-निर्देशांक ऊँचे हों तो इसका अर्थ होता है कि मुद्रा का मूल्य गिर रहा है। इस गिरते हुए मूल्य को मुद्रा की मात्रा में आवश्यक समायोजन करके ऊँचा उठाया जा सकता है।

(६) निर्देशांकों के द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौन व्यापारी उन्नति कर रहा है या किस उद्योग की प्रगति हो रही है।

कहने का अर्थ यह है कि निर्देशांक आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को जानने और समझने के लिए उपयोगी हैं। इनके द्वारा व्यापार का रुख़, पूँजी का बहाव लाभ-हानि का ज्ञान आदि अनेक बातें ज्ञात की जा सकती हैं। प्रो० फ़िशर का कहना है कि "वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थाई रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थायित्त्व लाने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी हैं"। यद्यपि निर्देशांकों के द्वारा मूल्य-स्तर के उतार-चढ़ावों का सही-सही ज्ञान नहीं हो

※ 'A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable.'

—Marshall.

सकता तो भी इनके द्वारा जो अनुमान लगाया जाता है वह बहुत उपयोगी होता है। एक मुद्रा-शास्त्री का कथन है कि निर्देशांक "अर्थ-शास्त्री, राजनीतिज्ञ, व्यापार-विशेषज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ सभी के लिए समान रूप से उपयोगी होते हैं।

अन्य प्रकार के निर्देशांक–

(१) औद्योगिक दशा-निर्देशांक

अब निर्देशांकों का उपयोग देश की औद्योगिक दशा जानने के लिए भी किया जाता है। देश के भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों की उत्पत्ति के अंक एकत्र किए जाते हैं। आधार वर्ष की उत्पत्ति १०० के बराबर मान ली जाती है और उसके आधार पर अन्य वर्षों की औद्योगिक उत्पत्ति के परिवर्तन का अनुमान निर्देशांक द्वारा लगाया जाता है। हमारे देश में कलकत्ता से 'केपिटल' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकलता है। वह सन् १९३२ से औद्योगिक दशा के निर्देशांक प्रकाशित कर रहा है। पहिले प्रत्येक वस्तु-समुदाय के उनकी उत्पत्ति के आधार पर अलग-अलग निर्देशांक तैयार) किए जाते हैं। फिर प्रत्येक वस्तु-समुदाय के निर्देशांक को उसके भार-अङ्क (Weight से गुणा किया जाता है और सब गुणनफलों को जोड़ कर योगफल में भार-अङ्कों के योग से भाग दे दिया जाता है। यही भागफल औद्योगिक दशा का निर्देशांक माना जाता है। 'केपिटल' में प्रकाशित इन निर्देशांकों में घरेलू-उद्योग-धन्धों सम्बन्धी कोई सामग्री सम्मिलित नहीं रहती। केवल बड़े पैमाने पर चलाए जाने वाले कारख़ानों और उद्योगों की दशा का पता लगता है।

(२) आर्थिक-दशा के निर्देशांक

पाश्चात्य देशों में अब प्रति मास ऐसे निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं जिनसे देश की वास्तविक आर्थिक या व्यापारिक दशा का ज्ञान होता रहता है व जिनके आधार पर निकट भविष्य की आर्थिक-दशा का कुछ सामान्य-अनुमान लगाया जाता है। जिस प्रकार 'बैरोमीटर' नामक यंत्र से हवा के दबाव का ज्ञान होता है और उसके आधार पर ऋतु परिवर्तन का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार इन निर्देशांकों के द्वारा भविष्य की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः इन्हें आर्थिक-'बैरोमीटर' कहना भी अनुचित न होगा। इंगलैण्ड और अमेरिका में ऐसे निर्देशांक बराबर प्रकाशित किए जाते हैं परन्तु भारत में आवश्यक सामग्री न होने के कारण निर्देशांक प्रकाशित नहीं होते।

(३) निर्वाह-व्यय-निर्देशांक (Cost of Living Index Numbers)

जब सब वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होता है तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उनकी परिस्थिति और रहन-सहन के अनुसार उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। जब वस्तुओं के मूल्यों में सामान्य बढ़ोत्तरी होती है तब सभी व्यक्तियों का निर्वाह-व्यय बढ़ जाता है परन्तु सभी लोगों का निर्वाह-व्यय एक-सा नहीं बढ़ता। किसी का जीवन-व्यय अधिक बढ़ जाता है और किसी का कम। वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांकों से हम पता

लगाते हैं कि मूल्य-स्तर में कैसा और कितना परिवर्तन हो रहा है किन्तु उनसे यह पता नहीं लगाया जा सकता कि निर्वाह-व्यय में क्या परिवर्तन हुआ है। वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण निर्वाह-व्यय में जो परिवर्तन होता है उसका अनुमान निर्वाह-व्यय-निर्देशांकों द्वारा लगाया जा सकता है। निर्वाह-व्यय-निर्देशांकों के तैयार करने की विधि प्रायः वही है जो मूल्य-निर्देशांक तैयार करने की है। निर्वाह-व्यय-निर्देशांकों को तैयार करने के लिए वस्तुओं और स्थानों का चुनाव ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि मूल्य-निर्देशांकों में। वस्तुओं का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे ही वस्तुएं चुनी जांय जिनका उस श्रेणी के लोग जिनके सम्बन्ध में हम निर्वाह-व्यय-निर्देशांक निकाले जा रहे हैं अधिक उपभोग करते हों। जिन वस्तुओं पर वे लोग अधिक व्यय करते हों उन्हीं वस्तुओं को चुन लेना चाहिए। चुनी हुई वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करने पर आधार-वर्ष का चुनाव, वार्षिक या औसत मूल्य और प्रतिशत औसत मूल्य ठीक उसी प्रकार ज्ञात किया जाता है जिस प्रकार मूल्य-निर्देशांकों के लिए। प्रत्येक वस्तु के प्रतिशत औसत मूल्य को उस भार-अङ्क से गुणा किया जाता है जो उस अनुपात में रहता है जिस अनुपात में सामान्यतः व्यय होता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु के प्रभाव के अनुसार प्रतिशत औसत मूल्य का भार-शील औसत (Weighted Average) निकाल लिया जाता है। सब गुणनफलों को जोड़कर उसे भार-अङ्कों से भाग दे दिया जाता है। भागफल निर्वाह-व्यय का निर्देशांक होगा।

इङ्गलैण्ड और अमेरिका में निर्देशांक-व्यवस्था

वैसे तो कितनी ही ग़ैर-सरकारी संस्थाएं और पत्र-पत्रिकाएं निर्देशांक तैयार करके प्रकाशित करती हैं परन्तु निर्देशांक प्राप्त करने के प्रधान और विश्वसनीय स्त्रोत निम्न हैं:—

इंगलैण्ड में 'स्टेटिस्ट' नामक एक पत्र है जिसमें प्रति मास मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित होते हैं। सबसे पहिले यह काम 'साबरेक' साहब ने आरम्भ किया था। इसलिए इस पत्र में प्रकाशित निर्देशांक 'साबरेक निर्देशांक' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'इकॉनॉमिस्ट' नामक एक दूसरा प्रमुख पत्र है जिसमें ४४ वस्तुओं के मूल्य एकत्र करके निर्देशांक तैयार किए जाते हैं। इंगलैण्ड की सरकार द्वारा स्थापित एक व्यापार समिति (Board of Trade) है जिसके द्वारा तैयार किए निर्देशांक 'लेबर-गज़ट' में प्रकाशित होते हैं।

अमेरिका में निर्देशांकों का सबसे अधिक उपयोग होता है। न्यूयार्क से 'एनेलिष्ट' (Analyst) नामक एक पत्र निकलता है जिसमें प्रति सप्ताह २४ वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांक दिए जाते हैं। देश की सरकार के द्वारा भी मूल्य-निर्देशांक और मज़दूरों के निर्वाह-व्यय-निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं। वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांक 'लेबर-रिव्यू' में भी प्रकाशित होते हैं। व्यापारिक-दशा-निर्देशांक हारवर्ड समिति

द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। सन् १९२३ से प्रो० फ़िशर द्वारा तैयार किए हुए मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित होते रहे हैं।

भारत में निर्देशांक-व्यवस्था

हमारे देश में निर्देशांक बनाकर प्रकाशित करने वाले दो प्रकार के स्रोत हैं—(१) ग़ैर-सरकारी स्रोत, (२) सरकारी स्रोत। ग़ैर-सरकारी स्रोतों में देश के प्रमुख स्थानों से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाएं तथा ग़ैर-सरकारी उद्योगों तथा अन्य व्यापारिक-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले आंकड़े सम्मिलित हैं। बम्बई से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक 'कॉमर्स', कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'इण्डियन फ़ॉयनेन्स' और 'केपिटल' तथा नई-दिल्ली से प्रकाशित 'ईस्टर्न एकॉनॉमिस्ट' सप्ताह की सप्ताह निर्देशांक तैयार करके प्रकाशित करते हैं। 'ईस्टर्न एकॉनॉमिस्ट' का तो अपना एक सांख्यकी विभाग (Statistics Department) ही अलग है जो समय-समय पर सभी प्रकार के निर्देशाँक प्रकाशित करता रहता है।

भारत सरकार प्रति मास 'मन्थली सर्वे ऑफ़ बजिनेस कन्डीशन्स' (Monthly Survey of Business Conditions) नामक रिपोर्ट प्रकाशित करती है जिसमें देश की व्यापारिक दशा के निर्देशांक दिए जाते हैं। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित निर्देशांक दिए जाते हैं:—

(१) कलकत्ता थोक-मूल्य-निर्देशांक।
(२) बम्बई थोक-मूल्य-निर्देशांक।
(३) सरकार के आर्थिक सलाहकार के थोक-मूल्य-निर्देशांक।
(४) निर्वाह-व्यय-निर्देशांक।

सन् १९३९ से भारत-सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा तैयार किए हुए निर्देशांक भी प्रकाशित होने लगे हैं। आधार-वर्ष १९३९ माना जाता है। भारत सरकार के सलाहकार के मूल्य-निर्देशांक अन्य निर्देशांकों से प्रायः कम ही रहते हैं और अधिक विश्वसनीय होते हैं। परन्तु यदि यह काम किसी निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था को सौंप दिया जाय तो निर्देशांक और भी अधिक विश्वसनीय बन सकते हैं।

निर्वाह-व्यय सम्बन्धी निर्देशांक (Cost of Living Index Numbers) एक मासिक रिपोर्ट बना कर प्रकाशित किए जाते हैं। ये निर्देशांक प्रायः मज़दूरों के रहन-सहन का व्यय दर्शाते हैं। राज्यों की सरकारें भी ऐसे ही निर्देशांक तैयार करती हैं।

भिन्न-भिन्न राज्यों की सरकारें अपने सरकारी गज़टों में प्रति मास या द्वै साप्ताहिक मूल्य-निर्देशांक प्रकाशित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों में मज़दूरों के रहन-सहन सम्बन्धी निर्देशांक भी प्रति मास प्रकाशित किए जाते हैं।

भारतीय निर्देशांक-व्यवस्था के दोषः—हमारे देश में जो निर्देशांक प्रकाशित किए जाते हैं वे प्रायः अधूरे, पक्षपात पूर्ण, अवैज्ञानिक और अशुद्ध होते हैं।

प्रो० मुंजन ने लिखा है कि "भारतीय मूल्य-निर्देशांक न तो बाज़ार के आपेक्षित महत्व पर निर्भर होते हैं और न उनमें आवश्यक समायोजन ही किया जाता है।* अतः वे किसी भी दशा में विश्वसनीय निर्देशांक नहीं कहे जा सकते। निर्देशांक बनाने में हमारे यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आवश्यक आंकड़े संगठित रूप में बहुत कम मिलते हैं और जो मिलते हैं वे प्रायः अधूरे रहते हैं। रहन-सहन के व्यय सम्बन्धी वैज्ञानिक निर्देशांक तो प्रायः मिलते ही नहीं और जो मिलते भी हैं वे बहुत ही असन्तोषजनक होते हैं। जिस अवैज्ञानिक ढंग से कुछ राज्यों में इस प्रकार के निर्देशांक बनाए जाते हैं तथा उनके बनाए जाने की रीतियाँ और उनके उपयोग की सीमा में जो अन्तर और विषमता है उससे सभी असन्तुष्ट हैं। बाउले और राबर्टसन ने इसकी कड़ी आलोचना की थी। इन दोषों का मुख्य कारण यह है कि हमारे देश में शिक्षित और अनुभवी जाँच-कर्ताओं की कमी है जो जनता में विश्वास पैदा करके उनसे ठीक-ठीक आंकड़े पैदा कर सकें। किन्तु यह कठिनाई दूर हो सकती है यदि ऐक विशाल सांख्यिकी-विभाग हो और उस कार्य के लिए अनुभवी कर्मचारी हों। इसके लिए विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को सामाजिक और आर्थिक विषयों की जांच की ओर विशेष ध्यान देना उपयोगी होगा।

प्रश्न

१. 'निर्देशांक' किसे कहते हैं? सामान्य-मूल्य-निर्देशांक बनाने की क्या विधि है? निर्देशांक बनाने से व्यापारी और उद्योगपति को क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं?

२. 'भारशील-निर्देशांकों' से आप क्या समझते हैं? ये निर्देशांक किस प्रकार बनाए जाते हैं? उदाहरण सहित समझाइये।

३. निर्देशांक बनाने में किन-किन मुख्य बातों की सावधानी रखनी चाहिए? निर्देशांक बनाने से क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं?

४. निर्देशांकों की उपयोगिता पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।

५. निर्वाह-व्यय-निर्देशांकों से आपका क्या तात्पर्य है? ये निर्देशांक किस प्रकार बनाए जाते हैं? इनकी क्या उपयोगिता है?

६. भारत में निर्देशांक बनाकर प्रकाशित करने की क्या व्यवस्था है? इस व्यवस्था में मुख्य दोष कौन-कौन से हैं? इन दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

७. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(अ) भार-अङ्क (weights)

---

*"No Index Number of Indian prices can be regarded as reliable which is not based on some fair adjustment of the relative importance of the sectional market."

(ब) उद्योग-दशा-निर्देशांक
(स) 'साबरेक' निर्देशांक ऑफ़ इंगलैण्ड
(द) Monthly Survey of Businesss Conditions.
(य) सरकारी निर्देशांक

८. "भारतीय मूल्य निर्देशांक न तो बाज़ार के आपेक्षित महत्त्व निपर निर्भर होते हैं और न उनमें आवश्यक समायोजन ही किया जाता है। अतः वे किसी भी दशा में विश्वसनीय निर्देशांक नहीं कहे जा सकते"।

उक्त वाक्य की सत्यता पर अपने विचार प्रगट कीजिए।

अध्याय १०

मुद्रा-प्रमाप पद्धतियाँ

एक-धातुवाद [Mono-metallism]; द्विधातुवाद [Bi-metallism]

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप (Gold Currency Standard),
स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard).
स्वर्ण-विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard),
आदि आदि······

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से उसका समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। व्यापार तथा लेन-देन का क्रम बिगड़ जाता है। उद्योगों की प्रगति रुक जाती है व वेतन-भोगियों तथा मज़दूरों का रहन-सहन बदलने लगता है। कहने का अर्थ यह है कि समाज का समूचा आर्थिक कार्य-क्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतः देशी और विदेशी व्यापार के विकास के लिए, उद्योगों की उन्नति के लिए तथा समाज के आर्थिक कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि जहां तक सम्भव हो सके वहां तक मुद्रा का मूल्य स्थिर और स्थाई बनाया जाय जिससे मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के कारण होने वाली हानियां न हों और व्यापार का भली-भांति संचालन हो सके। इसके लिए देश की मुद्रा-प्रमाप-पद्धति (Monetary Standard) ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मुद्रा की मांग और पूर्ति का स्वत: ही समायोजन (adjustment) होता रहे। मुद्रा-प्रमाप पद्धति देश की उस मौद्रिक-प्रणाली को कहते हैं जिसके अनुसार देश में एक या दो प्रकार के सिक्के देश की प्रमुख और प्रामाणिक-मुद्राएँ हों, जिनके साथ सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन किया जाय तथा जिनके साथ देश की अन्य सहायक मुद्राएँ सम्बन्धित हों। मुद्रा-प्रमाप-पद्धति में तीन प्रमुख बातें होती हैं:—

(अ) एक या दो प्रकार के सिक्के देश की प्रमुख-मुद्राएँ (Standard Money) बना दिए जाते हैं। जब एक ही धातु का सिक्का प्रमुख मुद्रा बनाया जाय तो उसे 'एक-धातुवाद' (Mono-metallism) कहते हैं। जब दो प्रकार के दो सिक्के अलग-अलग प्रमुख-मुद्राएँ बनाए जाय तो उसे 'द्वि-धातुवाद' (Bi-metallism) कहते हैं। जब दो धातुओं को मिलाकर बनाया हुआ एक सिक्का प्रमुख-मुद्रा बनाया जाय तो उसे 'मिश्रित-धातुवाद' (Symmetallism) कहते हैं।

(ब) प्रमुख-मुद्रा मुद्राओं के साथ अन्य वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन किया जाता है।

(स) देश में चलने वाली अन्य सांकेतिक अथवा सहायक मुद्राओं का प्रमुख-मुद्रा मुद्राओं के साथ सम्बन्ध होता है।

मुद्रा-प्रमाप देश की आर्थिक-स्थिति तथा देशवासियों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। मुद्रा-प्रमाप या तो किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिसका अपना कोई वस्तु-मूल्य या वास्तविक-मूल्य होता है या किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिसका अपना कोई मूल्य नहीं होता। जैसे,
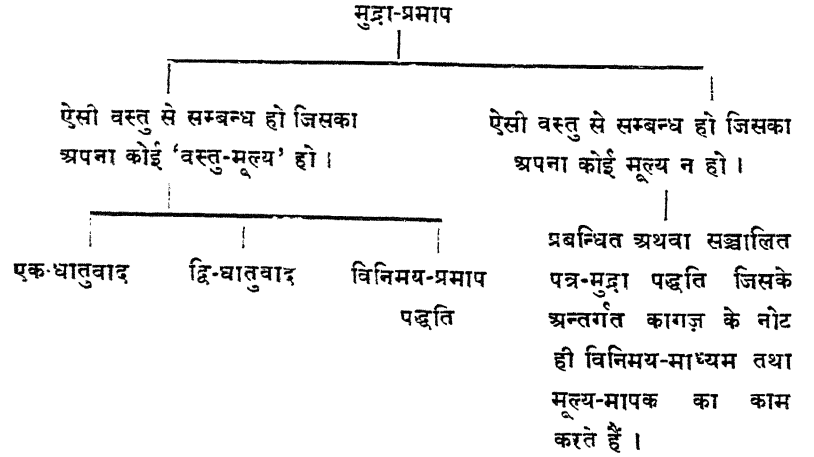
[१] एक-धातुवाद (Mono-metallism)

वह पद्धति जिसके अन्तर्गत देश की प्रमुख-मुद्रा (Standard Money) एक धातु अर्थात् सोने या चाँदी की बनी हुई होती हो 'एक-धातुवाद' कहलाता है। एक-धातुवाद के अन्तर्गत किसी एक ही धातु (प्रायः सोने या चाँदी) के सिक्के देश की प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलते हैं। यही सिक्के देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन करते हैं तथा इन्हीं के साथ देश में चलने वाली अन्य सांकेतिक-मुद्राओं का मूल्य सम्बन्धित होता है। इस पद्धति में नीचे लिखी हुई मुख्य बातें होती हैं :—

(अ) एक धातु (सोना या चाँदी) की बनी हुई प्रमुख-मुद्रा असीमित क़ानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) होती है अर्थात् उसे असीमित मात्रा में लिया-दिया जा सकता है।

(ब) एक धातु की बनी हुई उस मुद्रा का स्वतन्त्र-टङ्कण (Free Coinage) होता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति उस धातु को ले जाकर उसके बदले में सरकारी टकसाल से सिक्के ढलवा सकता है।

(स) प्रमुख-मुद्रा के अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की सांकेतिक या गौण मुद्राएं भी चलती हैं। ये मुद्राएं कागज़ या किसी अन्य धातु की बनी होती हैं तथा सीमित क़ानूनी-मुद्रा (Limited Legal Tender) होती हैं। इन सांकेतिक मुद्राओं को किसी भी समय प्रधान-मुद्रा या सोना-चाँदी में बदलवाया जा सकता है।

यदि प्रधान-मुद्रा चाँदी की बनी हुई हो तो उस पद्धति को 'रजत-प्रमाप' (Silver Standard) कहते हैं और यदि प्रधान-मुद्रा सोने की बनी हुई हो तो उसे स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard) कहते हैं।

१९३३ से पहिले अमरीका में एक-धातुवाद का चलन था जिसके अन्तर्गत वहाँ सोने का डॉलर प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलता था। उस डॉलर में २३.२२ ग्रेन्स शुद्ध सोना तथा २.५८ ग्रेन्स अन्य धातु होती थी। १८९३ से पहिले हमारे देश में भी एक-धातुवाद पद्धति थी जिसमें चाँदी का रुपया प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलता था। उस चाँदी के रुपये में १६५ ग्रेन्स शुद्ध चाँदी तथा १५ ग्रेन्स अन्य धातु होती थी।

(अ) रजत-प्रमाप (Silver Standard)

एक-धातुवाद के अन्तर्गत जब किसी देश में चाँदी का सिक्का प्रमुख-मुद्रा के रूप में चले तो उसे रजत-प्रमाप (Silver Standard) कहते हैं। रजत-प्रमाप में निम्न बातें होती हैं :—

(१) चाँदी का रुपया प्रमुख-मुद्रा हो और असीमित मात्रा में लिया-दिया जाय।

(२) चाँदी के रुपये का स्वतन्त्र-टङ्कण हो।

(३) रुपये के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सहायक सिक्के भी चलते हों परन्तु ये सीमित मात्रा में ही लिए-दिए जांय तथा ये प्रमुख मुद्रा के साथ सम्बन्धित हों।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि संसार के अनेक देशों ने रजत-प्रमाप को अपनाया है। परन्तु आधुनिक युग में इसका विशेष महत्व नहीं रह गया है। १९३४ से पहिले चीन में रजत-प्रमाप था परन्तु १९३४ में चीन ने भी इसका बहिष्कार कर दिया। केमरर नामक मुद्रा-शास्त्री का कहना है कि आजकल रजत-प्रमाप केवल इथोपिया तथा हाँगकाँग के ब्रिटिश उपनिवेशों में ही अपनाया जाता है।

भारत में रजत-प्रमापः—हमारे देश में १८३५ के एक्ट के द्वारा रजत-प्रमाप स्थापित किया गया था जिसके अन्तर्गत चाँदी का रुपया देश की प्रमुख-मुद्रा बना दिया गया। इस रुपये में १६५ ग्रेन्स शुद्ध चाँदी थी। रुपये का स्वतन्त्र-टङ्कण था तथा इसे असीमित मात्रा में लिया-दिया जा सकता था। रुपये के अतिरिक्त अन्य प्रकार के छोटे सिक्के भी चलते थे। इनका मूल्य रुपये के साथ सम्बन्धित

था तथा इनको रुपये में या चाँदी में बदलवाया जा सकता था। परन्तु १८७१ के बाद चाँदी के भाव गिरने लगे और रुपये का मूल्य घटने लगा। अन्त में १८९३ में स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया गया जिससे रजत-प्रमाप समाप्त हो गया।

(ब) स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard)

वह पद्धति जिसके अन्तर्गत देश की प्रमुख-मुद्रा सोने की बनी हुई हो अथवा उसका मूल्य सोने में निर्धारित हो 'स्वर्ण-प्रमाप-पद्धति' कहलाती है। संसार के अनेक राष्ट्र शताब्दियों तक स्वर्ण-प्रमाप को मानते रहे हैं और आज भी कुछ उन्नतिशील राष्ट्रों का विश्वास स्वर्ण-प्रमाप में ही जमा हुआ है। सबसे पहिले इङ्गलैण्ड और अमरीका जैसे धनी देशों ने स्वर्ण-प्रमाप अपनाया था परन्तु शनैः-शनैः अन्य देश भी स्वर्ण-प्रमाप को मानने लगे। जैसे-जैसे स्वर्ण-प्रमापी देशों की संख्या बढ़ती गई तैसे-ही-तैसे स्वर्ण के मूल्य में स्थिरता और स्थायित्व आता गया। इतना ही नहीं, स्वर्ण-प्रमापी देशों की आपस की विनिमय-दर भी स्थाई बनती गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा पूँजी के लेने-देन में काफ़ी सहारा मिला। प्रथम महायुद्ध समाप्त होने पर प्रो० कीन्स ने कहा था "कि यदि योरप भर में स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर दिया जाय तो निस्संदेह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन बढ़ जायगा।"

स्वर्ण-प्रमाप के द्वारा स्वतः ही मुद्रा की घटा-बढ़ी होती रहती है जिससे स्वर्ण-प्रमापी देशों के मूल्य-स्तर प्रायः साथ २ ही घटते-बढ़ते रहते हैं। जब कभी मुद्रा की आवश्यकता होती है तो इच्छानुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है और जब कभी मुद्रा की मात्रा कम करनी होती है तो सोने के सिक्कों को गला कर मुद्रा की मात्रा कम कर दी जाती है। स्वर्ण-प्रमाप अपनाने वाले देशों की विनिमय-दरों (Rates of Exchange) में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होते और जो कुछ उतार-चढ़ाव होते हैं वे 'स्वर्ण-बिन्दुओं'* (Gold Points) तक ही सीमित रहते हैं।

स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत सोना वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-मापन का काम करता है। इसके अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं कि सोने के सिक्के ही चलाए जांय किन्तु जो सिक्का चलन में हो वह सोने में परिवर्तनीय होना चाहिए। केमरर का मत है कि 'स्वर्ण-प्रमाप-पद्धति वह है जिसमें एक निश्चित सोने की मात्रा मूल्य-मापन का कार्य करे और जहाँ सोने का स्वतन्त्र लेन-देन हो" (The Gold Standard is the monetary system where the unit of value is the value of a fixed quantity of gold in a free gold market.)

स्वर्ण-प्रमाप के भेद:—स्वर्ण-प्रमाप विभिन्न देशों में चार रूपों में प्रयोग होता रहा है।

(१) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप (Gold Currency Standard)
(२) स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard)
(३) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard)

---

* देखिए अध्याय १२

(४) स्वर्ण-कोष प्रमाप (Gold Reserve Standard)

(१) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप (Gold Currency Standard)

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के अन्तर्गत सोने के सिक्के देश में प्रमुख-मुद्रा के रूप चलते हैं। ये सिक्के विनिमय-माध्यम का काम भी करते हैं और मूल्य-मापन के काम भी आते हैं। इनके अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की मुद्राएँ भी चलती हैं परन्तु उनका मूल्य सोने के प्रमुख सिक्के के साथ सम्बन्धित होता है तथा इनको सोने में या सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता है। स्वर्ण मुद्रा प्रमाप के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(अ) देश में सोने के सिक्कों का चलन होता है। सोने का सिक्का देश की प्रमुख-मुद्रा तथा प्रामाणिक-सिक्का माना जाता है।

(ब) सोने के सिक्के का देश में स्वतन्त्र टंकण होता है। कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर सरकारी टकसाल में उसके बदले में सिक्के बनवा सकता है। सोने के सिक्के असीमित मात्रा में लिए-दिए जाते हैं। सोने के सिक्के का अंकित-मूल्य (Face Value) उसके वास्तविक-मूल्य (Real Value) के बराबर होता है।

(स) सोने के आयात एवं निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता।

(द) सोने के सिक्के के अतिरिक्त देश में अन्य प्रकार की मुद्राएँ भी चलती हैं परन्तु इनका मूल्य सोने के सिक्के के साथ सम्बन्धित होता है तथा इनको सोने या सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता है।

(क) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के लाभ : (१) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप की कार्य-शैली सरल होती है जिससे यह प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आ जाता है। इससे जनता का इसके प्रति विश्वास बना रहता है।

(२) सोने की मांग हर जगह होती है। इसलिए इसके अन्तर्गत चलने वाली सोने की प्रमुख-मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा होती है जिससे स्वर्ण-प्रमाप मानने वाले देशों का पारस्परिक-व्यापार सुगम हो जाता है।

(३) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने के कारण सरकार को इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता। इससे इसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य-स्तर स्वतः ही समायोजित (adjust) होते रहते हैं और यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील (Automatic) बनी रहती है।

(ख) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के अन्तर्गत 'स्वयंपूर्ण कार्यशीलता' [Automatic Working of Gold Currency Standard]

यदि एक देश से दूसरे देश में निर्यात अधिक हो तो दूसरा देश पहिले देश का भुगतान चुकाने के लिए सोना निर्यात करेगा। सोना निर्यात होने के परिणाम-

स्वरूप दूसरे देश में मुद्रा-संकोच हो जायगा जिससे वहां वस्तुओं की कीमतें गिर जायंगी। फिर, अन्य देशों की अपेक्षा इस देश की क़ीमतें नीची होने के कारण इस देश का निर्यात बढ़ने लगेगा और सोने का आयात होगा। सोने का आयात होते ही मुद्रा की मात्रा बढ़ने लगेगी तथा क़ीमतें भी चढ़ जायंगी। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमापी देशों के मूल्य स्तरों में स्थिरता तथा स्थायित्व बना रहेगा। सरकार को इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होगी। स्वर्ण मुद्रा प्रमाप की इस क्रिया को 'स्वयंपूर्ण कार्यशीलता' (Automatic Regulation of Gold Standard) कहते हैं।

स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की यह कार्यशीलता दो बातों पर निर्भर होती है:—

(१) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो।

(२) सोने का आयात होने पर मुद्रा-प्रसार हो तथा सोने का निर्यात होने पर मुद्रा-संकुचन हो। कहने का अर्थ यह है कि 'सोने' और 'मुद्रा' के साथ परस्पर अविच्छेद सम्बन्ध होना चाहिए।

यदि इन दोनों बातों में से किसी एक भी बात का पालन न किया गया तो स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं रह सकता। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप की कार्य-शैली तो एक 'खेल' (Game) के समान है जिसके अन्तर्गत उस 'खेल' को खेलने के लिए कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। यदि कभी 'खेल' के नियमों का पालन न किया गया तो खेल नहीं खेला जा सकता। इसी प्रकार यदि स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के उक्त दोनों नियमों का पालन नहीं किया गया तो स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप नहीं चल सकेगा। प्रथम महायुद्ध काल में इगलैण्ड ने इन नियमों का उल्लंघन किया था जिससे वहाँ स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप टूट गया।

[ग] स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के दोषः (१) इस पद्धति में सोने के सिक्के चलने के कारण सोने का अधिक व्यय होता है। अतः यह पद्धति अधिक ख़र्चीली है।

(२) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप विश्व-शान्ति काल में ही स्वयंपूर्ण कार्यशील' (Automatic) रह सकता है। कहने का अर्थ यह है कि यह पद्धति 'अच्छे समय की साथी' (Fair weather friend) है अर्थात् जब तक संसार में शान्ति बनी रहे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लेन-लेन सुगमता पूर्वक चलता रहे स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप 'स्वयंपूर्ण कार्यशील' बना रहेगा। परन्तु राजनैतिक अराजकता या आर्थिक संकट के समय इसको निभाना कठिन हो जाएगा। युद्धकाल में जब प्रत्येक देश अपने-अपने कल्याण के स्वार्थ में लगा रहता है यह पद्धति नहीं चल सकती। जब एक देश आयात ही आयात करता रहे तो उसका सोना निर्यात होता रहेगा और उसे मुद्रा-संकुचन करना पड़ेगा जिसके फल-स्वरूप वस्तुओं की क़ीमतें नीची हो जाएगी। ऐसे समय में यदि उस देश ने स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप के 'नियमों' का पालन तो किया पर वस्तुओं के मूल्य-स्तर गिरने के साथ-साथ उत्पादन-व्यय कम न

किया तो स्वर्ण-प्रमाप का निभाना कठिन हो जाएगा। दूसरी ओर यदि किसी देश ने स्वर्ण-प्रमाप के 'नियमों' का पालन न किया तो भी यह पद्धति नहीं चल सकती।

(घ) स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप का तिरस्कार : प्रथम महायुद्ध से पहिले मुद्रा-शास्त्रियों का मत था कि स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। वे सोचते थे कि मुद्रा के मूल्य एवं वस्तुओं के मूल्य-स्तर में स्थिरता और स्थायित्व लाने के लिए सोने के सिक्कों का चलाना अनिवार्य है। परन्तु युद्धकाल में सोने का अभाव होने के कारण यह विचार-धारा बदलती गई और लोग समझने लगे कि सोने के सिक्के चलाकर सोना नष्ट करने से तो यह अच्छा है कि सोना इकट्ठा करके रखा जाए। अनेक मुद्रा-शास्त्री अनुभव करने लगे कि सोना किसी भी मुद्रा-पद्धति का लक्ष्य नहीं होना चाहिए वरन् लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन-मात्र होना चाहिए। युद्ध के पश्चात् कुछ लोगों की तो यह धारणा ही बन गई कि सोने के सिक्के चलाना कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। सोने के सिक्के तो केवल इसलिए चलाए जाते हैं कि उन के द्वारा जनता में सरकार की मुद्रा-नीति के प्रति विश्वास बना रहता है और उनके द्वारा देश-विदेश में भुगतान चुकाने में भी सुगमता रहती है। प्रो० कीन्स जैसे प्रकाण्ड मुद्रा-शास्त्री ने भी कहा था कि "युद्ध के पश्चात् युद्ध पूर्व-काल के मुद्रा-प्रमाप (अर्थात् स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप) को स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं समझता हूँ कि मूल्य स्तर, साख तथा नियोग (Employment) में स्थायित्व रखना अनिवार्य है परन्तु मैं यह नहीं समझता कि अब स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप इनमें स्थायित्व रखने के लिए आवश्यक है।" ※ अब अनेक मुद्रा-शास्त्रियों का यह मत बन चुका है कि कोई भी पद्धति जिसके अन्तर्गत कागज़ के नोटों को किसी भी समय और किसी भी उद्देश्य के लिए सोने में बदलवाने की व्यवस्था हो 'स्वर्ण-प्रमाप-पद्धति' कह सकते हैं। ※※ परन्तु इस योजना को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि सोने का स्वतन्त्र लेन-देन हो और देश की बैंकिंग व्यवस्था सुसंगठित हो। इस प्रकार प्रथम युद्ध के पश्चात् सोने के सिक्कों का मान घट गया। एक समय था जबकि सोने के सिक्कों का चलना किसी देश के लिए गौरव और सम्मान की बात समझी जाती

※ "I regard the stability of prices, credit and employment as of paramount importance and feel no confidence that an old fashioned gold standard will ever give the medium of stability that it used to give."—A tract on Monetary Reforms.

※※ Keynes has defined a Gold Standard as "in its essense an abstract standard where the price of gold has been fixed not absolutely but so far that variations of the prices are restricted within very narrow limits or what amounts to the same thing, where the unit of currency has an approximately fixed gold value."

Heilperni likewise maintains that Gold Standard Currency is not gold currency but paper money administered in such a way as to keep the price of gold stable.

—Adapted from R. N. Mathur's Money, Banking & Exchange.

थी परन्तु आज सोने के सिक्के चलाना असभ्यता का चिन्ह माना जाता है। प्रथम युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप बिल्कुल समाप्त हो गया और उसके स्थान पर "स्वर्ण-धातु-प्रमाप" पद्धति आ गई।

(२) स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard)

इस पद्धति के अनुसार सोना 'मूल्य-मापन' का काम करता है परन्तु 'विनिमय-माध्यम' का काम नहीं करता अर्थात् सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते। देश में कागज़ के नोट तथा चाँदी के सिक्के चलाए जाते हैं परन्तु इनके बदले में सोना (धातु के रूप में) लिया जा सकता है। सोने के आयात-निर्यात पर भी किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। देश की सरकार निश्चित दर पर जनता को सोना बेचती तथा जनता से सोना ख़रीदती है। जनता किसी भी काम के लिए (निर्यात के लिए या घरेलू काम के लिए) सोना ख़रीद सकती है परन्तु यह सोना निश्चित मात्रा से कम मात्रा में नहीं ख़रीदा-बेचा जा सकता। स्वर्ण-धातु प्रमाप के मुख्य लक्षण निम्न हैं:—

(अ) सोना 'मूल्य-मापक' होता है परन्तु 'विनिमय-माध्यम' नहीं होता। सोने के सिक्के न तो देश में बनाए जाते हैं और न चलाए जाते हैं।

(ब) विनिमय-माध्यम के लिए देश में कागज़ के नोट तथा चाँदी के सिक्के चलाए जाते हैं। इनके बदले में निश्चित दर पर सोना मिल सकता है परन्तु एक निश्चित मात्रा से कम सोना नहीं ख़रीदा जा सकता। सोना देने का काम सरकार या केन्द्रीय बैंक का होता है। सोना किसी भी उद्देश्य के लिए ख़रीदा जा सकता है।

(स) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(द) सरकार को या केन्द्रीय बैंक को सोना बेचने के लिए अपने पास सोने का एक कोष रखना पड़ता है।

स्वर्ण-धातु प्रमाप की मुख्य-मुख्य बातें स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप से मिलती-जुलती हैं। अन्तर केवल इतना है कि स्वर्ण-धातु प्रमाप में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते वरन् कागज़ के नोट, चाँदी के सिक्के तथा अन्य छोटे सिक्के चलाये जाते हैं। परन्तु इनके बदले में सोना लिया जा सकता है। सारांश यह है कि—

'स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप' के अन्तर्गत सोना विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मापक होता है—परन्तु

'स्वर्ण-धातु प्रमाप' के अन्तर्गत सोना केवल मूल्य-मापक होता है।

(क) स्वर्ण-धातु प्रमाप से लाभ: (१) इस पद्धति में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते इसलिए सिक्कों के घिसावट से होने वाली हानि नहीं होती और सिक्के बनाने में जो व्यय होता है वह भी बच जाता है। अतः यह पद्धति स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप पद्धति के समान ख़र्चीली नहीं है।

(२) इसके अन्तर्गत देश में चलने वाली प्रत्येक मुद्रा का परिवर्तन सोने में किया जा सकता है। अतः इससे इसमें जनता का विश्वास जमा रहता है और सरकार की साख बनी रहती है।

(३) चूँकि इस पद्धति में सोने के सिक्के चलाने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए इससे सोने की भी बचत होती है और छोटे-छोटे देश भी, जिनके पास सोना नहीं होता, इसे अपना सकते हैं।

(४) इस पद्धति के अन्तर्गत निश्चित मात्रा से कम सोना ख़रीदने की व्यवस्था नहीं होती इसलिए प्रत्येक सामान्य व्यक्ति सोना नहीं ख़रीद पाता। और इसी कारण कोष में सरकार को कम सोना रखने की आवश्यकता होती है तथा अतिरिक्त सोने को अन्य कामों में लगाया जा सकता है।

(५) यह पद्धति 'स्वयंपूर्ण कार्यशील' (Automatic) होती है जिसमें सोने के क्रय-विक्रय के अनुसार मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन होता रहता है। जब लोग सोना ख़रीदते हैं तो वे सरकार को (या केन्द्रीय बैंक को) बदले में नोट तथा अन्य सिक्के दे देते हैं जिससे मुद्रा-मण्डी में मुद्रा-संकुचन हो जाता है। इसी प्रकार जब लोग सोना बेचते हैं और बदले में नोट या अन्य सिक्के ले लेते हैं तो मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और मुद्रा-प्रसार हो जाता है। इस प्रकार इसमें अपने आप लोच बनी रहती है।

(ख) स्वर्ण-धातु प्रमाप के दोष:—स्वर्ण-धातु प्रमाप को चलाने का प्रबन्ध सरकार या देश की केन्द्रीय बैङ्क को करना पड़ता है क्योंकि सोने का क्रय-विक्रय इन्हीं दोनों में से किसी एक के हाथ में होता है। अतः इस पद्धति में सरकार हस्तक्षेप करती रहती है और कभी-कभी तो यह हस्तक्षेप बहुत अधिक सीमा तक बढ़ जाता है। इसमें सरकार का हस्तक्षेप होना ही इसका सबसे बड़ा दोष है। केमरर नामक मुद्रा-शास्त्री ने लिखा है—

'लगभग सभी देशों में युद्धोत्तर-कालीन स्वर्ण-प्रमाप (स्वर्ण-धातु-प्रमाप) की स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic Working) युद्धपूर्व-कालीन स्वर्ण-प्रमाप (स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप) से कम रही। इसका कारण यह था कि इसके अन्तर्गत सरकार का और केन्द्रीय बैङ्क का हस्तक्षेप अधिक था और जब कभी वे चाहते तभी मुद्रा की घटा-बढ़ी में कमी-बेशी कर दिया करते थे।' (Gold and Gold Standard by Kemerrer Pp, 118-120.)

(ग) इङ्गलैण्ड और भारत में स्वर्ण-धातु प्रमाप (१९२५–१९३१) :—सबसे पहिले स्वर्ण-धातु-प्रमाप को १९२५ में इंगलैण्ड ने अपनाया था। उस समय वहाँ सोने के सिक्के (सावरेन और अर्द्ध-सावरेन) चलना बन्द कर दिया गया और क़ागज़ के नोटों के बदले में सोना मिला करता था। सोना ३ पौं० १७ शि० १०½ पें०

प्रति औंस की दर से मिलता था और ४०० औंस से कम मात्रा में नहीं ख़रीदा जा सकता था। सोना धातु के रूप में मिलता था सिक्कों के रूप में नहीं।

१६२८ में फ्राँस ने भी लगभग इसी रूप में इसे स्वीकार किया। अन्तर केवल इतना था कि फ्राँस की केन्द्रीय बैंक को अधिकार दे दिया गया था कि वह नोटों के बदले में चाहे तो सोने के सिक्के दे या सोना दे।

१६२५-२६ में हिल्टन यंग कमीशन ने हमारे देश के लिए स्वर्ण-धातु-प्रमाप की ही सिफ़ारिश की थी। सरकार ने १६२७ का करेंसी-एक्ट पास करके इसे हमारे देश में स्थापित किया। इ के अनुसार कोई भी व्यक्ति सरकार से कम-से-कम ४०० औंस या १०६५ तोला सोना २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से ख़रीद सकता था। सोना किसी भी काम के लिए खरीदा जा सकता था। उस समय सोने के आयात-निर्यात की भी स्वतन्त्रता थी। यह पद्धति हमारे देश में १६३१ तक चलती रही। १६३१ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप छोड़ दिया और फिर भारत ने भी स्वर्ण-धातु-प्रमाप तोड़ कर अपने रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ गठ-बन्धन कर दिया।❀

(३) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold Exchange Standard)

स्वर्ण-धातु-प्रमाप की भाँति स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप में भी सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते। सोना केवल विदेशी भुगतान करने के काम में लाया जाता है। देश के आन्तरिक प्रयोग (Internal use) के लिए कागज़ के नोट तथा चाँदी के सिक्के और अन्य सहायक सिक्के चलाए जाते हैं। इन मुद्राओं का मूल्य शुद्ध सोने की निश्चित मात्रा में निर्धारित किया जाता है। देश में चलने वाली सांकेतिक मुद्रा का मूल्य स्थायी रखने का काम सरकार का होता है। इसके लिए सरकार दो कोष बनाकर रखती है—एक कोष देश में रखा जाता है जिसमें देश में चलने वाली मुद्राएँ होती हैं तथा यह अनुकूल व्यापाराधिक्य (Favourable Balance of Trade) का भुगतान चुकाने के काम आता है—दूसरा कोष विदेश में रक्खा जाता है जिसमें सोना होता है तथा यह कोष विदेशी भुगतान चुकाने के काम आता है। सोना केवल विदेशी भुगतान करने के लिए दिया जाता है, देशी कामों के लिए नहीं। जब कभी विदेशी-भुगतान करने होते हैं तो सरकार देश में देशी मुद्रा लेकर कोष में जमा कर लेती है और विदेश-स्थित सोने के कोष में से विदेशों में भुगतान चुका दिया जाता है और जब कभी व्यापाराधिक्य देश के पक्ष में होता है तो विदेशों में सोना लेकर विदेश-स्थित कोष में जमा कर लिया जाता है और देशी कोष में से भुगतान चुका दिया जाता है। इस प्रकार सरकार मुद्रा की विनिमय-दर को स्थायी बनाती है। इसके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं:—

❀ विस्तृत विवरण के लिए लेखक की "भारतीय मुद्रा का इतिहास" देखिए। अध्याय ५ 'स्टर्लिङ्ग से गठ-बन्धन १६३१'।

(अ) देश में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते। इसका अर्थ यह है कि सोना 'विनिमय माध्यम' का काम नहीं करता वरन् 'मूल्य मापन' का काम ही करता है।

(ब) देश में आन्तरिक प्रयोग के लिए कागज़ के नोट, चाँदी के सिक्के तथा अन्य प्रकार के सस्ते सिक्के चलाये जाते हैं। इनका मूल्य सोने के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। विदेशी भुगतान के लिए सरकार निश्चित मूल्य पर इनके बदले में सोना देने को बाध्य होती है। सरकार सोना या सोने पर आधारित अन्य मुद्रा भी दे सकती है।

(स) सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते हैं—एक कोष देश में रखना पड़ता है जिसमें देशी मुद्राएँ होती हैं—दूसरा कोष विदेश में रखना पड़ता है जिसमें सोना या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा होती हैं। इन्हीं कोषों के द्वारा सरकार मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थायी बनाती है।

(द) सोने का आयात-निर्यात नहीं होता वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता है।

स्वर्ण-धातु-प्रमाप और स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप में मुख्य भेद यह है कि स्वर्ण-धातु-प्रमाप के अन्तर्गत चालू मुद्रा का विनिमय सोने से देशी व विदेशी कैसी भी आवश्यकताओं के लिए हो सकता है परन्तु स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के अन्तर्गत चालू मुद्रा का विनिमय सोने या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा से केवल विदेशी भुगतान चुकाने के लिए ही हो सकता है।

(क) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के लाभ:—(१) इसके अन्तर्गत न तो सोने के सिक्के चलाए जाते हैं और न देश के आन्तरिक कार्यों के लिए ही सोना दिया जाता है इसलिए इसमें सोना ख़र्च नहीं होता। हाँ, विदेशी भुगतान के लिए सरकार को सोने का कोष बनाना पड़ता है जिसमें अपेक्षाकृत कम सोने की आवश्यकता होती है।

(२) इस पद्धति के द्वारा देशी और विदेशी मुद्राओं की पारस्परिक विनिमय-दर सरलता से स्थिर और स्थायी बनाई जा सकती है।

(३) चूँकि इसमें अधिक सोने की आवश्यकता नहीं होती इसीलिए निर्धन और अविकसित देश भी इसको अपना सकते हैं। इस प्रकार अधिकाँश देशों में इसका पालन किया जा सकता है।

(४) यह पद्धति अधिक लोचदार होती है क्योंकि इसमें मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-संकुचन सोने की मात्रा पर आश्रित नहीं होता। अतः आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

सारांश यह है कि इस पद्धति के द्वारा स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप के प्रायः सभी लाभ तो मिलते हैं परन्तु हानियाँ नहीं होतीं।

(ख) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के दोष:—(१) चूँकि इसके अन्तर्गत सोने के सिक्के नहीं चलते और न देशी कार्यों के लिए ही सोना दिया जाता है इसलिए सामान्य जनता का उसमें विश्वास कम रहता है।

(२) सरकार को दो कोष बनाने पड़ते हैं जिनके संचालन और प्रबन्ध में कभी-कभी बड़ी-बड़ी उलझनें आ सकती हैं। उस दशा में यह पद्धति सामान्य जनता को एक "जटिल-पद्धति' बन जाती है।

(३) चूँकि इसके अन्तर्गत सोने का आदान-प्रदान और आना-जाना नहीं होता इसलिए सभी देशों के मूल्य-स्तरों में समानता पैदा नहीं की जा सकती और इसलिए विदेशी विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। (परन्तु स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप और स्वर्ण-धातु-प्रमाप में सोने का आदान-प्रदान होने के कारण मूल्य अपेक्षाकृत स्थायी बने रहते हैं)।

(४) इस पद्धति का प्रबन्ध और संचालन प्रधानतः सरकार के हाथ में रहता है। इसलिए सरकार इसमें चाहे जैसा फेर-बदल कर सकती है। एक प्रकार से यह पद्धति 'संचालित-पद्धति' होती है जिसकी सफलता सरकार की कृपा पर निर्भर बन जाती है।

(५) इस पद्धति की लोच (Elasticity) आत्म-निर्भर नहीं होती जैसे कि पहली दो पद्धतियों में होती है। इसमें मुद्रा का प्रसार और संकोच सरकार के हाथ में रहता है क्योंकि विदेशी विनिमय का नियन्त्रण भी उसी के अधिकार में होता है।

(ग) भारत में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप:—(१९०७–८ से १९१६–१७) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप को सबसे पहिले १८७६–७७ में हालैण्ड ने अपनाया था। इसके बाद १८९२–९३ में रूस और आस्ट्रिया ने भी इसको अपना लिया। प्रथम महायुद्ध से पहिले भारत में भी स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का पालन होता रहा था। भारत में यह पद्धति १९०७-८ में स्थापित हुई और प्रथम युद्धकाल तक चलती रही। उस समय १ रुपया १ शि० ४ पें० के बराबर बना दिया गया, इसी दर पर १ पौंड १५ रुपये के बराबर होता था। भारत सरकार के पास दो कोष थे—एक कोष इङ्गलैण्ड में भारत-मन्त्री के पास रहता था और दूसरा कोष भारत में रखा जाता था। जब कभी भारत के किसी व्यापारी को इङ्गलैण्ड में भुगतान करना होता था तो वह भारत-सरकार से स्टर्लिङ्ग-बिल (Sterling Bill) ख़रीद लेता और बदले में उक्त दर (१ रु. = १ शि. ४ पें.) के हिसाब से रुपया जमा कर दिया करता था। वह इस स्टर्लिङ्ग-बिल को इंगलैण्ड भेज देता और वहां भारत-मन्त्री उसके बदले में कोष में से पौण्ड चुका दिया करते थे। इसके विपरीत यदि कभी इंगलैण्ड के व्यापारी को भारत में भुगतान चुकाना होता तो वह लन्दन में भारत-मन्त्री से रुपये के बिल (Rupee Bill) ख़रीद कर १ पौण्ड = १५ रुपये की दर से पौण्ड जमा कर दिया

करता था। वह इस रुपये के बिल को भारत में भेज दिया करता और यहां उसके बदले में भारत सरकार कोष में से रुपये चुका दिया करती थी। इस प्रकार सरकार अपने हाथों से इस पद्धति का संचालन करती थी। यह पद्धति लगभग १६१७ तक चलती रही। युद्धकाल की असाधारण परिस्थितियों के कारण सरकार विनिमय-दर को स्थाई न बना सकी और अन्त में भारत को स्वर्ण-विनिमय प्रमाप छोड़ना पड़ा।

(४) स्वर्ण-कोष-प्रमाप (Gold Reserve Standard)

यह पद्धति स्वर्ण-प्रमाप का एक नया रूप है जिसका प्रयोग कुछ देशों में १६३६ से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ काल तक होता रहा था। १६३६ में अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड तथा स्विटज़रलैण्ड ने एक समझौता ❀ किया जिसके अनुसार सोना एक देश से दूसरे देश में आ-जा सकता था। यद्यपि इस समय इन देशों में स्वर्ण-पद्धति पीछे बताए गए तीन रूपों में से किसी भी रूप में नहीं मानी जाती थी परन्तु फिर भी इस समझौते के अनुसार सोने का आयात-निर्यात हो सकता था। आयात-निर्यात केवल मुद्रा सम्बन्धी कामों में प्रयोग आने वाले सोने का ही हो सकता था, व्यापारियों द्वारा क्रय-विक्रय किए गए सोने का नहीं। सोने का यह लेन-देन इन देशों की केन्द्रीय बैंकों के बीच नहीं होता था वरन् 'विनिमय-समातुलन-कोषों' (Exchange Equalisation Fund) द्वारा होता था। ये कोष प्रत्येक देश में एक प्रकार से सरकारी ख़ज़ानों के विभाग ही थे और केन्द्रीय बैंकों के साथ मिलकर काम करते थे। इन कोषों में अपने-अपने देश की मुद्राएं जमा रहती थीं जिनके बदले में आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा या सोना ख़रीदा जाता था परन्तु ये कोष किसी निश्चित अनुपात में ही अपनी-अपनी मुद्राओं को सोना या विदेशी-मुद्रा ख़रीदने में व्यय कर सकते थे। इस प्रकार ये कोष विदेशी-मुद्रा मण्डियों में दोनों ही काम कर सकते थे अर्थात् विदेशी-मुद्रा तथा सोने का अपनी मुद्रा के बदले में क्रय भी कर सकते थे और विदेशी मुद्रा तथा सोने के बदले में अपनी मुद्रा भी ख़रीद सकते थे। उदाहरणार्थ, यदि कभी लन्दन में डॉलरों की माँग होती तो इंगलैण्ड-स्थित कोष डॉलर देकर इस माँग को पूरा कर दिया करता था जिससे पौण्ड के साथ डॉलर का मूल्य नहीं बढ़ पाता था। इसी प्रकार यदि पेरिस में फ्रैंक (Franc) की कमी हो जाती तो फ्राँस-स्थित कोष फ्रैंक बेच दिया करता और बदले में विदेशी-मुद्रा ले लिया करता था जिससे फ्रैंक की विनिमय-दर स्थिर बनी रहती थी।

इस प्रकार प्रत्येक कोष में समझौता करने वाले देशों ❀ की मुद्राएं जमा

❀ यह समझौता सितम्बर १६३६ का "त्रिदेशीय मौद्रिक समझौता" (Tripartite Monetary Agreement) कहलाता है। सबसे पहिले यह समझौता अमरीका, इंगलैण्ड और फ्राँस के बीच में हुआ था। बेल्जियम, हालैण्ड और स्विटज़रलैण्ड ने इस पर नवम्बर १६३६ में हस्ताक्षर किए।

रहती थीं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता था कि एक, दो या इससे अधिक कोषों में एक ही देश की मुद्रा बहुत अधिक मात्रा में इकट्ठी हो जाय। इसके लिए समझौते में उचित व्यवस्था कर ली गई थी। उदाहरणार्थ, यदि कभी कई कोषों में स्टर्लिंङ्ग की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती तो ये कोष इंगलैण्ड को स्टर्लिंङ्ग देकर बदले में सोना ले सकते थे और इस सोने को या तो अपने-अपने कोष में रख लेते थे और या उसके बदले में और कोई विदेशी-मुद्रा, जिसकी उनके कोष में कमी होती, ख़रीद लिया करते थे। परन्तु इंगलैण्ड अनिश्चित मात्रा में सोना नहीं दे सकता था। यदि कभी स्टर्लिंङ्ग के बदले में सोने की माँग बढ़ती ही जाती तो इसका अर्थ यह होता था कि स्टर्लिंङ्ग की विनिमय-दर ऊँची है और उसे कम कर देना चाहिए। ऐसी स्थिति में कोष स्टर्लिंङ्ग ख़रीदना बन्द कर दिया करते जिससे स्टर्लिंङ्ग की दर वास्तविकता पर आ जाती थी और तब फिर नई वास्तविक दर पर स्टर्लिंङ्ग का क्रय-विक्रय आरम्भ हो जाता था।

इस प्रकार 'विनिमय-समातुलन-कोषों' (Exchange Equalization Funds) में सोना जमा रहता था और एक देश के कोष में से दूसरे देश के कोष में आ-जा सकता था। इसलिए इस पद्धति को 'स्वर्ण-कोष-पद्धति' कहते हैं। इस पद्धति के द्वारा बिना किसी कठिनाई के मुद्रा की विनिमय-दर स्थिर और स्थाई बनाई जा सकती थी। इसके द्वारा ब्याज-दर को घटा-बढ़ाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से देश की आन्तरिक आर्थिक-स्थिति को प्रभावित किए बिना ही विदेशी-विनिमय दर स्थाई बनाई जा सकती थी।

जब तक यह पद्धति अपनाई जाती रही विदेशी मुद्राओं में सोने का मूल्य स्थाई बना रहा। पर युद्धकाल की भीषण परिस्थितियों में यह पद्धति न चल सकी।

१९३६ से लेकर युद्धकाल तक यह पद्धति गुप्त रूप से चलती रही। कोषों के द्वारा विदेशी मुद्राओं व सोने का लेन-देन प्रायः गुप्त रूप से ही होता था। जनता को न तो यह मालूम हो पाता था कि अमुक कोष क्या ख़रीद कर रहा है और न यह मालूम हो पाता था कि कोष में कौन-कौन सी मुद्राएँ कितनी-कितनी मात्रा में जमा हैं। इस भांति यह पद्धति सुचारु रूप से चलती रही परन्तु युद्ध की भीषणता के सामने न टिक सकी। युद्धकाल में विनिमय-दर स्थाई बनाने के लिए अनेक नए-नए प्रयत्न करने पड़े जो आज तक चले आ रहे हैं। ॐ

ॐ इस पद्धति का विवेचन कॉलवॉर्न की A discussion of Money नामक पुस्तक से लिया गया है। लेखक उक्त पुस्तक-लेखक का आभारी है।

(२) द्विधातुवाद [Bi-metallism]

द्विधातुवाद उस मुद्रा-पद्धति को कहते हैं जिसके अन्तर्गत दो धातुओं (प्रायः सोने और चाँदी) के सिक्के अलग-अलग प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलें और दोनों का एक-दूसरे के साथ क़ानूनी-सम्बन्ध हो। इसके अन्तर्गत चलने वाले दोनों धातुओं के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकण होता है और दोनों ही असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि दोनों ही प्रकार के सिक्के मूल्य-मापन तथा विनिमय-माध्यम का काम करते हैं। द्विधातुवाद के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(अ) दो धातुओं [प्रायः सोना और चाँदी] के सिक्के अलग-अलग प्रमुख अर्थात् प्रामाणिक-मुद्रा (Standard Money) होते हैं।

(ब) दोनों सिक्कों के आपस का मूल्य क़ानून के द्वारा निश्चित होता है और इस मूल्य पर वे एक दूसरे से बदले जा सकते हैं।

(स) दोनों धातुओं के सिक्कों का स्वतन्त्र-टंकण होता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना या चाँदी टकसाल में ले जाकर उसको सिक्कों में बदलवा सकता है।

(द) दोनों धातुओं के सिक्के असीमित मात्रा में लिए-दिए जा सकते हैं (Unlimited Legal Tenders)

(य) दोनों धातुओं के सिक्कों का अंकित-मूल्य (Faee Value) उनके वास्तविक-मूल्य (Intrinsic Value) के बराबर होता है।

(फ) दोनों ही सिक्के विनिमय-माध्यम (Medium of Exchange) तथा मूल्य-मापन (Measure of Value) का काम करते हैं।

वैसे तो सोना और चाँदी अनेक वर्षों तक मुद्रा का काम करते रहे हैं परन्तु द्विधातुवाद का प्रचार केवल १९वीं शताब्दी से ही आरम्भ होता है। इससे पहिले सोना और चाँदी द्विधातुवाद के लक्षणों के अनुसार नहीं चलते थे। यद्यपि १९वीं शताब्दी के आरम्भ में भी सोने और चाँदी के सिक्के प्रामाणिक-मुद्रा के रूप में चलने लगे थे परन्तु उस समय भी द्विधातुवाद का वैज्ञानिक रूप ज्ञात नहीं था। द्विधातुवाद का वैज्ञानिक सिद्धान्त तो १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होता है। *

(क) द्विधातुवाद का समातुलन-सिद्धान्त
[The Compensatory Principle of Bi-metallism]

द्विधातुवाद का आधार भूत सिद्धान्त यह है कि देश के अन्तर्गत चलने वाले दो धातुओं के सिक्के एक दूसरे पर अपना-अपना समातुलन-प्रभाव (Compensatory influence) डालते रहते हैं जिससे मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थायी बना

---

* देखिए "द्विधातुवाद का संक्षिप्त इतिहास"—अगले पृष्ठों में।

रहता है और मूल्य-स्तर को भी स्थिर और स्थायी बनाने में सहायता मिलती है। यदि कभी सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य की अपेक्षा बढ़ जाय तो लोग चाँदी के सिक्के बनवाने लगेंगे और सोने को धातु रूप में बेचकर लाभ कमाने लगेंगे। ऐसी परिस्थिति में चाँदी की माँग बढ़ जायगी और सोने की पूर्ति बढ़ने लगेगी। इससे चाँदी का मूल्य बढ़ जायगा और सोने का मूल्य गिरने लगेगा यहां तक कि दोनों धातुओं की मात्रा सन्तुलन में आकर दोनों एक-दूसरे के मूल्य को सन्तुलित करते रहेंगे। इसी प्रकार यदि कभी चाँदी का मूल्य सोने के मूल्य की अपेक्षा बढ़ जाय तो लोग चाँदी को बाज़ार में बेच कर लाभ कमायेंगे और सोने के सिक्के बनाने लगेंगे। इस प्रकार सोने की माँग बढ़ जायगी और चाँदी की पूर्ति बढ़ने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि चाँदी का भाव गिरने लगेगा और सोने का मूल्य बढ़ जायगा। दोनों एक दूसरे पर समातुलन प्रभाव द्वारा मूल्य स्थायी बनाते रहेंगे। इसी प्रकार एक धातु के माँग और पूर्ति की घटा-बढ़ी दूसरी धातु के माँग और पूर्ति की बढ़त-घटत के द्वारा समातुलन होती रहती है जिससे दोनों धातुओं की मुद्राओं का क़ानूनी-मूल्य और वास्तविक-मूल्य (बाज़ार-मूल्य) समानता में बने रहते हैं। प्रो० जेवन्स ने द्विधातुवाद के इस सिद्धान्त को Equilibratory Action कहकर पुकारा है। उदाहरण के लिए यदि हम ऐसी दो पानी की टंकियों की कल्पना करें जिनमें एक-दूसरे को मिलाने वाली कोई नली नहीं हो तो हम देखेंगे कि उन दोनों के पानी का स्तर अपने-अपने अनुपात में अलग-अलग उतरता-चढ़ता रहेगा। परन्तु यदि उनको मिलाने वाली एक नली लगा दी जाय तो दोनों टंकियों के पानी का स्तर समातुलन में रहेगा और एक टंकी के पानी की कमी-बेशी दोनों पर प्रभाव डालती रहेगी यहाँ तक कि दोनों का उतार-चढ़ाव संतुलन में बना रहेगा। ठीक यही बात द्विधातुवाद पद्धति के साथ है। इसके अन्तर्गत भी दोनों धातु एक-दूसरे पर अपनी-अपनी माँग और पूर्ति का प्रभाव डालते रहते हैं जिससे दोनों का मूल्य समानता में बना रहता है और दोनों मुद्राओं के आपस के क़ानूनी-मूल्य (Legal Value) तथा बाज़ार-मूल्य (Market Value) में अधिक समय तक विषमता न रहकर समानता बनी रहती है।

उदाहरण:—मान लो, किसी देश में द्विधातुवाद का पालन किया जाता है तथा सोने और चाँदी के सिक्के चलते हैं। दोनों सिक्कों का क़ानूनी-मूल्य (Legal Value) १६:१ है अर्थात् १६ चाँदी के सिक्के मूल्य में १ सोने के सिक्के के बराबर हैं। अब यदि चाँदी का (धातु के रूप में) बाज़ार-भाव १५:१ हो जाय अर्थात् १५ चाँदी के सिक्कों के बदले में १ सोने का सिक्का मिलने लगे तो कहेंगे कि चाँदी का बाज़ार-मूल्य बढ़ गया और सोने का मूल्य गिर गया। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि चाँदी का धातु-मूल्य (Metal Value) बढ़ गया और मौद्रिक-मूल्य (Monetary Value) घट गया। ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति

चाँदी लाकर उसके सिक्के बनवाना पसन्द नहीं करेगा और न कोई व्यक्ति १६ चाँदी के सिक्के देकर १ सोने का सिक्का ही लेना पसन्द करेगा क्योंकि बाज़ार में चाँदी का मूल्य बढ़ जाने के कारण १६ चाँदी के सिक्कों के बदले में १ सोने के सिक्के से अधिक मिल सकेगा। अब तो प्रत्येक व्यक्ति सोना लाकर उसके सिक्के बनवाने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि देश में सोने-ही सोने के सिक्के होंगे चाँदी के सिक्के दिखाई भी नहीं पड़ेंगे। लोग चाँदी को या तो गला-गला कर बेचने लगेंगे और या विदेशी भुगतान करने में विदेशों में भेज देंगे। इस प्रकार दोनों धातुओं के क़ानूनी-मूल्य और बाज़ार-मूल्य में विषमता हो जायगी। परन्तु ज्यों-ज्यों बाज़ार में चाँदी की पूर्ति बढ़ेगी चाँदी का मूल्य गिरने लगेगा और ज्यों-ज्यों सोने की माँग बढ़ने लगेगी सोने का मूल्य चढ़ने लगेगा और कुछ ही समय पश्चात दोनों सिक्कों का आपस का अनुपात सन्तुलित हो जायगा।

इसके विपरीत यदि कभी दोनों सिक्कों का बाज़ारू अनुपात १७ : १ हो जाय तो कहेंगे कि सोने का अधिमूल्यन (Overvaluation) हो गया और चाँदी का अभिमूल्यन (Undervaluation) हो गया। अभिमूल्यित-धातु अर्थात् चाँदी अधिमूल्यित-धातु अर्थात् सोने को चलन से बाहर करने लगेगी अर्थात लोग चाँदी के सिक्के बनवाने के लिए चाँदी की माँग करने लगेंगे और बाज़ार में सोने का मूल्य बढ़ जाने के कारण सोने को गला कर बेचने लगेंगे। इससे सोने की पूर्ति बढ़ जायगी और चाँदी की माँग बढ़ जाएगी। पूर्ति बढ़ने से सोने का मूल्य गिरने लगेगा और चाँदी की माँग बढ़ने से चाँदी का मूल्य बढ़ने लगेगा। फिर इस प्रकार कुछ ही समय बाद दोनों के मूल्य का समातुलन हो जायगा।

इस प्रकार दोनों धातुओं का बाज़ार-मूल्य घट-बढ़ कर अन्त में क़ानूनी-मूल्य के समान हो जाता है और सोने और चाँदी के पारस्परिक-मूल्य में स्थायित्व बना रहता है। दोनों धातुओं का आपस का समातुलन-प्रभाव "द्विधातुवाद की समातुलन क्रिया" (Compensatory Action of Bi-metallism) कहलाती है। याद रखना चाहिए कि द्विधातुवाद के अन्तर्गत काम आने वाले धातुओं का मूल्य घटता-बढ़ता अवश्य है परन्तु यह घटा-बढ़ी अधिक समय तक स्थायी नहीं रहती वरन् समातुलन-क्रिया के द्वारा शीघ्र ही सन्तुलित होती रहती है। कुछ भी हो, समातुलन-क्रिया (Compensatory Action) किन्हीं विशेष परिस्थितियों में और कुछ समय तक ही सम्भव होती है। यदि कभी ऐसी 'स्थायी" शक्तियाँ उत्पन्न हो जायँ जिनसे धातुओं के क़ानूनी-मूल्य और बाज़ार-मूल्य के बीच में गहरी खाई बनती ही जाय तो समातुलन-क्रिया का कोई प्रभाव नहीं होगा। उस परिस्थिति में अधिमूल्यित-धातु (Overvalued Metal) के सिक्के चलन में से बन्द होते जायेंगे और अभिमूल्यित-धातु (Undervalued Metal) के सिक्के ही चलन में रहेंगे।

(ख) द्विधातुवाद के गुण : द्विधातुवाद के समर्थकों ने इस पद्धति में निम्न गुण बतलाए हैं :—

(१) क्रय-शक्ति की स्थिरता एवं स्थायित्व :

द्विधातुवाद के अन्तर्गत मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं के मूल्य-स्तर में सामान्य स्थिरता और स्थायित्व बना रहता है। इसका कारण यह है कि एक धातु के उत्पादन की बढ़त-घटत दूसरी धातु की कमी-बेशी से सन्तुलित होती रहती है और परिणाम स्वरूप दोनों धातुओं के सिक्कों की क्रय-शक्ति में स्थिरता बनी रहती है। सोने का अभाव चाँदी के अधिक उत्पादन से सन्तुलित होता रहता है और चाँदी का अभाव सोने के अधिक उत्पादन से सन्तुलित होता रहता है जिससे दोनों के मूल्य प्रायः स्थिर रहते हैं। दूसरी बात यह है कि द्विधातुवाद के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के चलने के कारण मुद्रा की अधिकता रहती है इसलिए यदि इसमें मुद्रा की मात्रा और बढ़ने लगे तो उसका मुद्रा के मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता वरन् मुद्रा का मूल्य साधारणतः स्थायी ही बना रहता है। प्रो० फिशर का विचार है कि द्विधातुवाद ही एक ऐसी पद्धति है जिसके अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थायी बना रहता है। ❀

(२) उत्पादकों को लाभ तथा उत्पादन को प्रोत्साहन :

द्विधातुवाद के अन्तर्गत दो धातुओं की मुद्राएँ चलने के कारण मुद्रा की मात्रा अधिक होती है और एक-धातुवाद की अपेक्षाकृत अधिक जल्दी बढ़ भी जाती है। इससे मुद्रा का मूल्य शनैः-शनैः गिरने लगता है और वस्तुओं के भाव शनैः-शनैः बढ़ने लगते हैं जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादकों को लाभ होता है। मुद्रा का मूल्य गिरने से देनदार को भी लाभ पहुँचता है क्योंकि इस प्रकार उस पर ऋण का भार कम हो जाता है।

(३) विदेशी व्यापार को प्रगति :

द्विधातुवाद के समर्थकों का कहना है कि द्विधातुवाद पालन करने से विदेशी व्यापार को प्रगति मिलती है क्योंकि दोनों ही मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण स्वर्ण-प्रमाप रखने वाले तथा रजत-प्रमाप रखने वाले राष्ट्रों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। और विनिमय-दर भी स्थाई रक्खी जा सकती है।

(४) बैंकों के कोष में मितव्ययिता :

चूँकि द्विधातुवाद के अन्तर्गत दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक-मुद्रा होते हैं इसलिए बैंकों को अपने-अपने कोषों की व्यवस्था और संचालन करने में मितव्ययिता होती है तथा मुद्रा की अधिक मात्रा चलन में होने के कारण बैंकों के व्याज की दर भी कम होती है।

❀ Bimetallism is the only scheme for securing staiblity of the standard of value which has received any substantial measure of popular support. Fisher—The purchasing power of money.

(ग) द्विधातुवाद के दोष : द्विधातुवाद के विरोधियों ने इस पद्धति में निम्न दोष बतलाए हैं :—

(१) द्विधातुवाद पद्धति को मानने वाले देशों में ग्रेशम का सिद्धान्त लागू होने लगता है जिसके कारण अभिमूल्यित (Undervalued) मुद्रा अर्थात् ख़राब मुद्रा ही चलन में रह जाती है और अधिमूल्यित (Overvalued) मुद्रा अर्थात् अच्छी मुद्रा चलन से बाहर होने लगती है। * प्रो० मार्शल का कहना है कि अगर मुद्रा को छोड़ अन्य कामों में सोने का प्रयोग बढ़ने लगे तो सोने का मूल्य बढ़ने लगेगा और इस प्रकार सोने और चाँदी का पारस्परिक बाज़ार-मूल्य उनके क़ानूनी-मूल्य से भिन्न हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि सोने में सट्टेबाज़ी बढ़ने लगेगी और इसके साथ-साथ और दूसरे दोष भी उत्पन्न हो जाएँगे।

इतिहास प्रमाण है कि योरप में १८७३ के आस-पास अनेक देशों ने एक-धातुवाद के अन्तर्गत स्वर्ण-प्रमाप को अपना रक्खा था और लेटिन संघ के देशों में द्विधातुवाद था। उसी समय द्विधातुवाद मानने वाले देशों में सोने की अपेक्षा चाँदी का मौद्रिक-मूल्य (Monetary Value) बढ़ गया और धातु-मूल्य गिर गया। इसका फल यह हुआ कि सोना उन देशों में से निकल-निकल कर स्वर्ण-प्रमापी देशों में जाने लगा और लेटिन-संघीय देशों में केवल चाँदी के सिक्के ही चलन में रह गए। यही द्विधातुवाद का सबसे बड़ा दोष है।

(२) द्विधातुवाद के विरोधियों का कहना है कि जब दोनों धातुओं के क़ानूनी-मूल्य और बाज़ार-मूल्य में अन्तर होता है तो लेनदार अपने ऋणों का भुगतान अच्छी मुद्रा अर्थात् अधिमूल्यित मुद्रा में लेना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर देनदार ख़राब मुद्रा अर्थात् अभिमूल्यित मुद्रा में भुगतान करना चाहते हैं जिससे लेन-देन में कठिनाइयाँ होती हैं।

(घ) द्विधातुवाद की ऐतिहासिक झाँकी :—

सबसे पहिले संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने द्विधातुवाद का पालन किया था। १७९२ में मिण्ट एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार यह पद्धति आरम्भ हुई। सोने और चाँदी के सिक्के प्रधान अथवा प्रामाणिक मुद्रा बना दिए गए—ये सिक्के असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे तथा सरकार भी इन्हें असीमित संख्या में

---

*If the use of gold in arts increases, the value of gold will rise; and if in the currency a fixed ratio between gold and silver has been established, then the market ratio between gold and silver will differ from the monetary ratio. There will be speculation as a consequence of this, and its attendant evils.—Marshall.

लेने को बाध्य थी। दोनों धातुओं के सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण था तथा उन दोनों का क़ानूनी अनुपात १५ : १ निश्चित किया गया था अर्थात् १५ चाँदी के सिक्कों के बदले में १ सोने का सिक्का मिल सकता था। या यों कहिए कि १ औंस सोने की क़ीमत १५ औंस चाँदी के बराबर थी। उस समय बाज़ार-मूल्य और क़ानूनी-मूल्य में कोई अन्तर न था और जब तक यह समानता बनी रही तब तक किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हुई। १८३३ के आस-पास सोने और चाँदी का बाज़ार-मूल्य १५·६ : १ हो गया अर्थात् बाज़ार में १ औंस सोना ख़रीदने के लिए १५·६ औंस चाँदी देनी पड़ती थी परन्तु टकसाल से केवल १५ औंस चाँदी के बदले में १ औंस सोना मिल सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि टकसाल में चाँदी का अधि-मूल्यन (Over-Valuation) और सोने का अभिमूल्यन (Under-Valuation) हो गया। परिणाम स्वरुप बाज़ार में सोने का मूल्य बढ़ गया। अब लोग सोने के सिक्कों को या तो गलाने लगे और या विदेशी भुगतान के उपयोग में लाने लगे। इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण १८३४ में क़ानूनी-अनुपात बदल कर १६ : १ कर दिया गया। परन्तु बाज़ार-मूल्य अब भी १५·६ : १ ही था। परिणाम यह हुआ कि अब बाज़ार में चाँदी का मूल्य बढ़ गया और सोने का मूल्य क़ानूनी-मूल्य की अपेक्षाकृत कम हो गया। अब लोग चाँदी के सिक्कों को गला-गला कर बेचने लगे। १८५० में सोने की नई ख़ानों का पता लगा जिससे सोने का उत्पादन और बढ़ गया और सोने की क़ीमतें और भी अधिक गिर गईं। चाँदी के सिक्के विलीन होने लगे। १८७३ में अमेरिका की सरकार ने चाँदी का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया। इसका बहुत विरोध किया गया क्योंकि उस समय चाँदी के ख़ानों के मालिक वहां के राजनैतिक क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली थे। इस विरोध के कारण उनमें और सरकार में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार वहाँ पर एक निश्चित मात्रा में चाँदी के सिक्के बनने लगे। १८९३ में यह समझौता रद्द कर दिया गया और १९०० में स्वर्ण-प्रमाप एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार वहाँ पर स्वर्ण-प्रमाप स्थापित किया गया।

१९२९ में फिर एक बार द्विधातुवाद के पक्षपातियों का ज़ोर बढ़ा। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने भी द्विधातुवाद के समर्थन की घोषणा की और निश्चित किया गया कि वहाँ कुल धातु-मुद्रा का एक-चौथाई भाग चाँदी में रक्खा जायगा। इसके लिए वहां की सरकार ने सभी देशों से ख़ूब चाँदी ख़रीदी। चाँदी का क़ानूनी-मूल्य भी ऊँचा निर्धारित कर दिया गया। चाँदी का भाव ऊँचा रखने का परिणाम यह हुआ कि चाँदी में सट्टेबाज़ी बढ़ने लगी जिससे पहले तो उसका भाव कुछ ऊँचा बढ़ा परन्तु फिर नीचे गिर गया। उस समय केवल चीन में ही रजत-प्रमाप था परन्तु इस घट-बढ़ के कारण उसने भी १९३४ में इसे छोड़ दिया। अमेरिका अब भी द्विधातुवाद का पक्षपाती है। जुलाई १९४६ में उसने चाँदी का भाव कोई ७१ सेंट प्रति औंस से बढ़ाकर ९०·५ सेंट प्रति औंस कर दिया है।

फ्राँस तथा लैटिन यूनियन के देशों ने भी द्विधातुवाद को अपनाया था। १८०३ में फ्राँस ने इसे अपनाया था और सोने तथा चाँदी के बीच में १५ : १ का अनुपात स्थापित किया। किन्तु वहाँ भी क़ानूनी-मूल्य और बाज़ार-मूल्य में विषमता रहती थी जिससे कभी सोना अभिमूल्यित होता था और कभी चाँदी। इस प्रकार वहाँ ग्रेशम का सिद्धान्त लागू होता और केवल एक ही धातु की मुद्रा चलन में रहती थी। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए फ्रांस ने इटली, बेल्जियम और स्विटज़रलैण्ड के साथ एक लैटिन यूनियन (Latin Union) बनाई जहाँ द्विधातुवाद का प्रचार था। १८६८ में ग्रीस भी इस यूनियन में सम्मिलित हो गया। परन्तु कुछ ऐसे कारण बनते गए जिनकी वजह से उन देशों में से सोने के सिक्कों का लोप होने लगा और चाँदी के सिक्के ही चलन में रह गए। इसके दो प्रमुख कारण थे—

(१) संसार के अनेक राष्ट्र चाँदी का बहिष्कार करके स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने लगे थे।

(२) चाँदी की नई ख़ानों की खोज तथा चाँदी निकालने के वैज्ञानिक साधनों के आविष्कार के कारण चाँदी का उत्पादन बढ़ रहा था। अतः सोने की अपेक्षा चाँदी के भाव बुरी तरह गिर रहे थे। इससे इस यूनियन के देशों ने चाँदी का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया और इस प्रकार शुद्ध-रूप में द्विधातुवाद वहाँ भी न रहा।

१८७२–७३ के आस-पास एक नई परिस्थिति पैदा हुई। संसार में मन्दी (Depression) का समय आया जिससे वस्तुओं के भाव गिरने लगे। इसी समय द्विधातुवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर इस पद्धति का उपयोग करने का प्रचार आरम्भ किया। उन्होंने समझाया कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर द्विधातुवाद का पालन किया जाय तो वस्तुओं के भाव ऊँचे हो सकते हैं। परन्तु एक-धातुवाद के समर्थक इस बात के पक्ष में न थे। उन्होंने इस योजना का विरोध किया। फलस्वरूप १८७८ और १८९२ में दो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी कान्फ्रेंस हुईं जहाँ इङ्गलैण्ड ने द्विधातुवाद का घोर विरोध किया। इसी विरोध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुवाद नहीं अपनाया जा सका वरन् तब उसका सदैव के लिए परित्याग कर दिया गया। १८९२-९३ में आस्ट्रिया, जापान और रूस ने भी स्वर्ण-प्रमाप मान लिया। १८९३ में भारत ने भी चाँदी का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के अन्त तक द्विधातुवाद का सदा के लिए परित्याग कर दिया गया।

(च) क्या अब द्विधातुवाद सम्भव है?

द्विधातुवाद के समर्थकों का कहना है कि यह पद्धति व्यावहारिक है और सफलता के साथ अपनाई जा सकती है। द्विधातुवाद के इतिहास से यह बात सिद्ध होती है कि १९ वीं शताब्दी में अनेक देशों में इसके प्रयोग किए गए और उस शताब्दी के अन्त तक यह पद्धति चलती भी रही। परन्तु इस पद्धति को अपनाते समय यह बात देखनी होती है कि काम में आने वाले दोनों धातुओं के सिक्कों का

क़ानूनी-अनुपात वही हो जो उनका पारस्परिक बाज़ार-मूल्य हो। अगर यह पद्धति केवल एक ही देश में अपनाई जायगी तो धातुओं के बाज़ार-मूल्य और क़ानूनी-अनुपात में शीघ्र ही विषमता हो जायगी और तब द्विधातुवाद भी चकनाचूर हो जायगा। बाज़ार-मूल्य और क़ानूनी-अनुपात में विषमता होते ही ग्रेशम का सिद्धान्त लागू होगा और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जायगी और चलन में केवल एक ही धातु के सिक्के रह जाएंगे। इसके विपरीत यदि अनेक देशों में यह पद्धति अपनाई गई तो ग्रेशम का सिद्धान्त द्विधातुवाद की समातुलन-क्रिया (The Compensatory Action of Bimetallism) के द्वारा प्रभावहीन होता रहेगा और द्विधातुवाद को कोई विशेष हानि नहीं होगी। जितने अधिक देश इस पद्धति को अपनाएंगे और अपनी-अपनी मुद्रा का पारस्परिक अनुपात एक-सा निर्धारित करेंगे उतनी ही अधिक सफलता के साथ द्विधातुवाद अपनाया जा सकेगा। सिद्धान्ततः द्विधातुवाद स्थापित करके उसको सफल बनाना निम्न बातों पर निर्भर है :—

(१) इस पद्धति को संसार के अधिक-से अधिक देश अपनाएं और वे अपनाने वाले सब देश औद्योगिक और व्यापारिक दृष्टिकोणों से भर-पूर हों अर्थात् उनके आर्थिक साधन अनेक तथा प्रचुर हों।

(२) इस पद्धति को मानने वाले सब देश अपनी-अपनी मुद्राओं का पारस्परिक अनुपात एक-सा निर्धारित करें।

यह सब होने पर भी द्विधातुवाद के पुनरोद्धार की सम्भावना केवल कल्पना ही जान पड़ती है। संसार के मौद्रिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर स्थापित करने पर भी द्विधातुवाद न चल सका। गसमें निम्न अड़चनें आईं :—

(अ) अनेक देशों का विचार था कि स्वर्ण-प्रमाप अपनाने से देश की शान और मान बढ़ता है इसलिए उन्होंने द्विधातुवाद का विरोध किया और स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के प्रयत्न किए।

(ब) भिन्न-भिन्न देशों ने सोनें और चाँदी का पारस्परिक अनुपात भिन्न-भिन्न रक्खा और एक-सा करना न चाहा। इसलिए उन्होंने परोक्षरूप से इस पद्धति का विरोध किया।

(स) लेनदार देशों ने भी इसका विरोध किया। इनमें इङ्गलैण्ड सबसे प्रमुख था। इङ्गलैण्ड एक लेनदार देश था और चाहता था कि उसके ऋणी देश उसको अपने-अपने ऋणों का भुगतान सोने में करें। परन्तु उसने सोचा कि अगर द्विधातुवाद स्थापित हो जायगा तो वह भुगतान चाँदी में होगा जिससे उसे हानि होगी। अतएव इङ्गलैण्ड तथा अन्य लेनदार देशों ने इसी बात पर इस पद्धति का विरोध किया।

कुछ मुद्राशास्त्रियों का कहना है कि द्विधातुवाद स्थापित करने में सब देशों का एक मत होना बहुत कठिन बात है। इतिहास साक्षी है कि 'प्रत्येक देश स्वर्ण-

प्रमाप मानने में ही अपना मान समझता रहा—विशेषकर इङ्गलैण्ड जिसको इसमें विशेष आवश्यकता थी और इसलिए यह पद्धति नहीं अपनाई जा सकी।" आजकल तो द्विधातुवाद को स्थापित करने की माँग बिलकुल मर चुकी है और वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए निकट भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर द्विधातुवाद की स्थापना करना कोरी कल्पना जान पड़ती है।

(छ) द्विधातुवाद के विभिन्न रूप—

पिछले पृष्ठों में बताया गया है कि द्विधातुवाद के अनुसार किसी देश में दो धातुओं के सिक्के चलते हैं—ये सिक्के देश की प्रमुख-मुद्रा होते हैं अर्थात् इन सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता है, ये असीमित मात्रा में लिए-दिए जाते हैं, इनका अङ्कित-मूल्य इनके वास्तविक-मूल्य के बराबर होता है। तथा इन दोनों का आपस में एक-दूसरे से निश्चित अनुपात में सम्बन्ध होता है। ऐसी पद्धति को शुद्ध द्विधातुवाद पद्धति कहते हैं। इसके अतिरिक्त थोड़ी-बहुत फेर-बदल के साथ इस पद्धति के कई रूप हो सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) पंगु-प्रमाप (Limping Standard)

इस पद्धति के अनुसार दो धातुओं के सिक्के प्रमुख अथवा प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं—दोनों ही प्रकार के सिक्के असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते हैं और दोनों का आपस में एक-दूसरे से निश्चित अनुपात में सम्बन्ध होता है परन्तु स्वतन्त्र-टङ्कण (Free Coinage) केवल एक धातु का होता है। दूसरी धातु के सिक्के ढालने का एकाधिकार सरकार को ही होता है। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(अ) दो धातुओं का निश्चित अनुपात के साथ प्रमुख या प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलन।

(ब) दोनों का असीमित संख्या में लिया-दिया जाना।

परन्तु (स) केवल एक धातु का स्वतन्त्र-टङ्कण।

यह पद्धति शुद्ध द्विधातुवाद पद्धति का विकृत और अधूरा रूप है इसलिये इसे पंगु-द्विधातुवाद भी (Limping Bi-metallism) कहते हैं। जब कभी किसी देश में शुद्ध द्विधातुवाद हो परन्तु ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार एक सिक्का दूसरे को चलन से बाहर निकाल दे तो सरकार उन दोनों धातुओं में से सस्ती धातु का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर देती है। उसी समय पंगु-प्रमाप (Limping Standard) स्थापित हो जाता है। यह पद्धति प्रथम महायुद्ध से पहले फ्राँस और अमेरिका में प्रचलित थी। तब वहाँ सोने और चाँदी के सिक्के असीमित क़ानूनी-मुद्रा के रूप में चलते थे परन्तु स्वतन्त्र-टङ्कण केवल सोने के सिक्कों का ही था।

भारत में फाउलर कमेटी (Fowler Committee) ने १८९८ में पंगु-प्रमाप (Limping Standard) स्थापित करने की सिफ़ारिश की थी। उन्होंने कहा था कि

देश में सोने और चाँदी दोनों ही धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित हों परन्तु स्वतन्त्र-टङ्कण केवल सोने का ही हो।※

(२) समानान्तर-प्रमाप (Parallel Standard)

समानान्तर प्रमाप भी द्विधातुवाद का एक विशिष्ट रूप है। इसके अन्तर्गत भी सोने और चाँदी के सिक्के प्रामाणिक-मुद्रा के रूप में चलते हैं तथा दोनों प्रकार के सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता है परन्तु शुद्ध द्विधातुवाद की भांति इन दोनों में क़ानूनी-अनुपात (Legal Ratio) निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाज़ार-मूल्य ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार दोनों धातुओं के सिक्कों का पारस्परिक मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। सरकार उन दोनों के पारस्परिक बाज़ार-मूल्य को ही मान लेती है। चूँकि इसमें चाँदी के बदले सोने के सिक्के या सोने के बदले चाँदी के सिक्के बाज़ार-मूल्य पर ही बदले जाते हैं इसलिए इसमें ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता। संक्षेप में इस पद्धति के लक्षण इस प्रकार हैं :—

(अ) सोने और चाँदी के सिक्के प्रामाणिक या प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हैं।

(ब) दोनों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता है।

परन्तु (स) दोनों का पारस्परिक अनुपात क़ानून के द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाज़ार-मूल्य ही स्वीकृत कर लिया जाता है।

यह पद्धति १६६३ में इङ्गलैण्ड में अपनाई गई थी। इसे Alternate Standard भी कहते हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि देश में चलने वाले दोनों सिक्कों का आपस में मूल्य बदलता रहता है जिससे व्यापारियों को लेन-देन का हिसाब चुकाने में बड़ी गड़-बड़ और कठिनाई होती है।

(३) नव-द्विधातुवाद (Neo-Bimetallism) ※※

यह एक नए प्रकार का द्विधातुवाद है। इसके अन्तर्गत सोने और चाँदी पर आधारित कागज़ के नोट चला दिए जाते हैं और नोट बदलवाने वाले की इच्छा पर सोने या चाँदी में बदले जाते हैं। इसमें सोने और चाँदी के बीच में कोई क़ानूनी अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् यह अनुपात परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर बदलता रहता है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि दोनों धातुओं का पारस्परिक अनुपात बदलता रहता है जिससे इसका संचालन बहुत कठिन हो जाता है।

※ विस्तृत वर्णन के लिए 'भारतीय मुद्रा का इतिहास'।

** Money— Kinley. pp. 312-313.

द्वि-धातुवाद के भेद तथा-गुण

	शुद्ध-द्विधातुवाद [Pure Bi-metallism]	पंगु-द्विधातुवाद [Limping Bi-metallism]	समानान्तर-द्विधातुवाद [Parallel Bi-metallism]	नव द्विधातुवाद [Neo Bi-metallism]
लक्षण	१. दो-धातुओं (प्रायः सोने और चाँदी) के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक या प्रमुख मुद्रा के रूप में चलते हैं। २. दोनों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता है। ३. दोनों प्रकार के सिक्के असीमित संख्या में लिए-दिए जाते हैं। ४. दोनों धातुओं के सिक्कों का आपस का मूल्य क़ानून के द्वारा निर्धारित किया जाता है। ५. दोनों ही सिक्के विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते हैं।	१. दोनों धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूपमें चलते हैं। २. दोनों को असीमित संख्या में लिया-दिया जा सकता है। ३. दोनों का आपस का मूल्य क़ानून द्वारा निर्धारित किया जाता है। ४. परन्तु केवल एक धातु का स्वतन्त्र टङ्कण होता है।	१. दो धातुओं के सिक्के अलग-अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चल सकते हैं। २. दोनों को असीमित संख्या में लिया-दिया जा सकता है। ३. दोनों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता है। ४. परन्तु दोनों का पारस्परिक अनुपात क़ानून के द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता वरन् बाज़ार-मूल्य ही स्वीकार लिया जाता है।	१. सोने और चाँदी के बीच अनुपात निर्धारित नहीं किया जाता वरन् परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। २ सोने और चाँदी पर आधारित कागज़ के नोट चलते हैं। ३. ये नोट सोने या चाँदी में परिवर्तनीय होते हैं।

(३) अन्य मौद्रिक-प्रमाप पद्धतियाँ :

एक-धातुवाद तथा द्विधातुवाद के अतिरिक्त कुछ और भी मौद्रिक पद्धतियाँ होती हैं जिनका ब्यौरा संक्षेप में यहाँ दिया जाता है :—

(१) मिश्रित-धातु प्रमाप पद्धति (Symmeallism)

इस पद्धति के अन्तर्गत सोने और चाँदी को निश्चित मात्रा में मिलाकर इस मिश्रित-धातु के सिक्के बनाकर चलाए जाते हैं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि इसमें ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं होता। परन्तु इसमें निम्न दोष हैं :—

(१) जब सोने और। या चाँदी के मूल्य में कोई फेर-बदल होता है तो सिक्के का मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है जिससे भुगतान लेने-देने में भी बड़ी अड़चन होती है।

(२) कभी-कभी सरकार भी सिक्का बनाने में बेईमानी कर सकती है। सस्ता धातु अधिक मात्रा में मिला दिया जाता है और क़ीमती धातु कम मात्रा में मिलाते हैं।

(३) सिक्के की घिसावट आदि हानि होने पर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कौन-सा धातु अधिक कम हो गया है। इससे अज्ञान और अशिक्षित लोगों को धोखा होने की सम्भावना रहती है।

(४) दो धातुओं को ठीक-ठीक अनुपात में मिलाकर सिक्के बनाने में भी कठिनाई होती है।

(२) निर्देशांक-प्रमाप पद्धति (Tabular Standard*)

इस पद्धति के अन्तर्गत देश में चलने वाली मुद्रा का मूल्य स्थिर रखने के लिए मूल्य-निर्देशांक तैयार किए जाते हैं जिनके द्वारा आधार-वर्ष के मूल्यों की तुलना करके मुद्रा का मूल्य निर्धारित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस प्रकार वस्तुओं के अनुसार मुद्रा का मूल्य सदैव एक-सा ही बना रहता है जिससे लेनदार और देनदार के लेन-देन में कोई कमी-बेशी नहीं होती और दोनों में से किसी को भी कोई हानि नहीं रहती। इस पद्धति के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था होती है कि ऋणों के भुगतान में, विशेषकर दीर्घकालीन ऋणों के भुगतान में, कोई हानि नहीं रहती वरन् मुद्रा का मूल्य स्थिर और स्थाई बना रहता है। यह पद्धति विशेषत: भविष्य में चुकाये जाने वाले ऋणों को सुविधा देने के उद्देश्य से अपनाई जाती है। देश में चाहे कैसी भी मुद्रा 'विनिमय-माध्यम' का काम करती हो तो भी इस पद्धति को अपनाया जा सकता है।*

* "It is directly concerned with the standard of deferred payment ftunction of money, and may be employed while any other kind of monetary standard is serving for the medium of exchange."

—Kemerrer-Money p. 103.

लाभः—(१) इस पद्धति को अपनाने से देश-वासियों की आय (क्रय शक्ति के रूप में) स्थायी बनीरहती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य मूल्य-स्तरों के अनुरूप निश्चित किया जाता है। स्थायी आय पाने वाले लोगों को जीवन-व्यय बढ़ जाने से भी कोई हेर-फेर नहीं पड़ता क्योंकि उनकी आय (Income) की क्रय-शक्ति स्थाई रहती है। क्योंकि मुद्रा का मूल्य समय-समय पर मूल्य-स्तर के अनुसार निश्चित किया जाता है इसलिए बचत करने वालों को यह भय नहीं रहता कि जो कुछ भी आज उन्होंने बचाया है वह कल अपूर्ण रहेगा।

(२) इस पद्धति को अपनाने से आर्थिक संकट और तेज़ी-मन्दी का प्रभाव भी कम होता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं के मूल्यों के आधार पर निर्धारित होता है। इसलिए वस्तुओं की क़ीमतों के घटने-बढ़ने से मनुष्यों की आय पर भी कोई प्रभाव नहीं होता।* जब क़ीमतें कम हो जाती हैं तो देनदार को कम देना पड़ता है और लेनदार को भी कम आवश्यकता होती है। और जब क़ीमतें बढ़ जाती हैं तो लेनदार को अधिक मिलता है और देनदार भी अधिक देने में समर्थ होता है।

हानिः— इस पद्धति के कुछ दोष भी हैं जो यहां दिए जाते हैं :—

(१) यह पद्धति बहुत जटिल और कठिन है। इसे सामान्य जनता सरलता से नहीं समझ सकती और इसलिए लोगों का इसमें विश्वास नहीं हो सकता।

(२) इसके अन्तर्गत दीर्घकालीन ऋणों के लिए एक प्रमाप और नक़द लेन-देन के लिए दूसरे प्रमाप की आवश्यकता होगी जिससे इसे समझने में काफ़ी मतिविभ्रम (Confusion) होता है।

(३) इस पद्धति को अपनाने वाले देशों को अन्य देशों के साथ व्यापार करने में बड़ी अड़चनें होती हैं। यदि इस पद्धति को चलाना हो तो अधिकांश देशों को इसे पालन करना होगा परन्तु यह अब सम्भव नहीं जम पाता।

(४) पिछले इकट्ठे किए हुए मूल्यों से बनाए हुए निर्देशांकों से इस पद्धति का सम्बन्ध होने के कारण यह आदर्श पद्धति नहीं है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य प्रायः गलत इकट्ठे किए जाते हैं।

(५) इसमें विशेषतः आधार-वर्ष के निर्देशांकों पर ही आश्रित रहना पड़ता है और समय-समय पर भिन्न-भिन्न कारणों से होने वाले मूल्य-

*"Under the tabular standard the alternate periods of fever and chills would tend to become of less inportance."

—Kemerrer-Money pp. 105-107.

परिवर्तनों का कुछ भी विचार नहीं रक्खा जाता। इससे स्थिति की वास्तविकता का सही-सही ज्ञान नहीं हो पाता।

(६) सरकार को निर्देशांक समय-समय पर बार-बार बनाने पड़ते हैं और समय-समय पर उन्हें अप-टू-डेट (Up-tod-ate) रखना पड़ेगा जो बहुत कठिन काम प्रतीत होता है।

कहने का अर्थ यह है कि यह पद्धति सैद्धान्तिक है परन्तु व्यावहारिक नहीं। अगर कभी इसे अपनाना भी पड़ा तो सबसे पहिले इसे शनैः-शनैः अपने-अपने व्यक्तिगत लेन-देन में प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तुओं के मूल्य-निर्देशांकों का मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने में कोई हाथ नहीं रहेगा। ऐसा हो सकता है परन्तु अभी कोई सम्भावना नहीं दीख सकती।

(३) विनिमय-प्रमाप पद्धति (Exchange Standard)

स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति का वर्णन पहिले किया ही जा चुका है। यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब किसी देश की गौण या सांकेतिक मुद्रा विदेशी भुगतान करने के लिए सोने में परिवर्तनीय हो तो उसे स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप कहते हैं। (इसका विस्तार पूर्वक वर्णन पिछले पृष्ठों में पढ़िए।)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी देश की गौण या सहायक या सांकेतिक मुद्रा सोने में परिवर्तनीय न होकर किसी अन्य देश की स्वतन्त्र मुद्रा के साथ सम्बन्धित होती है। यदि हमारे रुपये का गठबन्धन स्टर्लिङ्ग से हो तो उसे स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप-पद्धति कहेंगे और यदि रुपये का गठबन्धन डॉलर से हो, तो उसे डॉलर-विनिमय-प्रमाप-पद्धति कहेंगे। जिस देश की मुद्रा के साथ हमारी मुद्रा परिवर्तनीय होगी उसी मुद्रा का विनिमय-प्रमाए माना जायगा। किसी भी विनिमय-प्रमाप पद्धति में वे सब दोष होते हैं जो स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति में पाये जाते हैं। परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें एक देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा के साथ बंधकर उस पर निर्भर हो जाती है। एक देश की मुद्रा का भाग्य दूसरे देश की मुद्रा से बंध जाता है जिससे उस देश की आर्थिक स्थिति का प्रभाव अपने देश की स्थिति पर पड़ता है। दूसरे, विदेशी विनिमय के लिए दोनों देशों को एक-दूसरे की मुद्राएँ अपने-अपने कोष में रखनी पड़ती हैं। यह भी एक अपव्यय है।

हमारे देश में १६३१ में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप अपनाया गया जबकि हमारे रुपये का इङ्गलैण्ड की मुद्रा के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया। यह प्रमाप द्वितीय युद्ध समाप्त होने तक चलता रहा परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष बनने पर यह समाप्त हो गया और अब एक प्रकार से "बहुमुद्रा-प्रमाप" (Multiple Standard) स्थापित हुआ है। (इसका विवरण इस अध्याय के अन्त में देखिए।)

(४) पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति (Prder Currency Standard)

अब तक हम ऐसी मौद्रिक पद्धतियों की चर्चा करते रहे हैं जिनके अन्तर्गत सोने या चाँदी अथवा सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्के प्रमुख-मुद्रा के रूप में चलते तथा विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते रहे हैं। ये पद्धतियां, जिनमें सोना और चाँदी काम आता है, केवल उस समय अपनाई जा सकती हैं जबकि देश में सोना और चाँदी अधिक मात्रा में उपलब्ध हों। ऐसे समय में जबकि सोना और चांदी अच्छी तरह देखने को भी न मिलते हों धातु-प्रमाप पद्धति नहीं अपनाई जा सकती। उस समय तो पत्र-मुद्रा से ही काम निकालना पड़ता है। पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति वह है जिसके अन्तर्गत कागज़ के नोट ही देश में विनिमय-माध्यम और मूल्य मापन का काम करते हैं और जिनका मूल्य किसी भी धातु के साथ निश्चित नहीं किया जाता। इस प्रकार की मुद्रा-पद्धति प्रायः युद्धकाल या अन्य किसी संकट के समय काम में लाई जाती है। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्न हैं :—

(अ) पत्र-मुद्रा ही देश में प्रमाणित-मुद्रा होती है और उसे असीमित संख्या में ले-दे सकते हैं।

(ब) इन नोटों का मूल्य सोने या किसी अन्य धातु से सम्बन्धित नहीं होता और न इसका सोने में परिवर्तन ही हो सकता है।

(स) मूल्य-स्तर में समानता रखने के लिए सरकार इस पद्धति का संचालन करती है। अर्थात् आवश्यकतानुसार नोटों की संख्या घटाती-बढ़ाती रहती है जिससे मूल्य-स्तर में विषमता न होने पावे।

चूँकि सरकार इस पद्धति का संचालन करती है इसलिए इसे "संचालित या नियन्त्रित-मुद्रा-पद्धति" भी कहते हैं।

दोष:—इस पद्धति में अनेक दोष हैं जो यहां दिए जाते हैं :—

(१) चूँकि पत्र-मुद्रा का किसी धातु विशेष से सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उसमें चलनाधिक्य (Overissue) का अधिक भय रहता है। अपरिवर्तनीय नोटों को जनता बड़ी डर-भरी दृष्टि से देखती है। लोग सदैव डरते हैं कि कभी उसका चलनाधिक्य न हो जाय। सरकार भी जनता पर टैक्स न लगाकर छापाख़ाना खोल देती है जहां से नोट छप-छप कर निकलते रहते हैं और सरकार की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। ज्यों-ज्यों इन नोटों की संख्या बढ़ती जाती है मुद्रा का मूल्य कम होता जाता है और वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ जाती हैं। परिणाम यह

होता है कि लेनदारों को हानि रहती है और निश्चित आय वाले लोग पिस जाते हैं।* यह इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

(२) इस पद्धति में किसी भी सीमा तक मूल्य-स्तरों में उलट-फेर होने की सम्भावना बनी रहती है। इस अनिश्चितता के कारण देश के देशी और विदेशी व्यापार को बड़ी हानि होती है। मुद्रा के खिलाड़ी इसे अपना खेल का साधन बना लेते हैं। यह ठीक है कि इस पद्धति के अन्तर्गत विनिमय-दर को गिराकर व्यापार को प्रगति दी जा सकती है परन्तु इसका दीर्घकालीन प्रभाव बहुत बुरा होता है।

(३) पत्र-मुद्रा केवल अपने देश में ही चल सकती है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान लेने-देने में बड़ी असुविधा रहती है।

(४) इस पद्धति का संचालन और प्रबन्ध सरकार के हाथ में होता है जिससे सरकार जैसा चाहे इसे मोड़-तोड़ कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर सकती है। सरकार द्वारा संचालित मुद्रा-पद्धति में निम्न दोष होते हैं :—

(अ) सरकार अपने हित के लिए नोटों की संख्या बढ़ाती है जिससे मुद्रा का मूल्य बहुत गिर जाता है और देश के व्यापार तथा उद्योग को बड़ी हानि रहती है।

(ब) कभी-कभी सरकार अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए मुद्रा-पद्धति में हेर-फेर कर देती है जिससे व्यापारिक हितों को हानि रहती है।

(स) इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजी के लेन-देन को हानि पहुंचती है तथा उत्पादन की प्रगति रुक जाती है।

(द) सरकार द्वारा मुद्रा-पद्धति के संचालन से देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर भी स्थायी नहीं रह पाते क्योंकि सरकार अपने हितों के लिए आर्थिक हितों की उतनी परवाह नहीं करती। क्राउथर नामक एक मुद्रा-शास्त्री का कहना है कि—

"जिस प्रकार संसार में स्वर्ण-प्रमाप सफल नहीं हो सका उसी प्रकार १९३१ के पश्चात् संचालित-पत्र-मुद्रा पद्धति भी सफल नहीं बन सकी। यद्यपि संसार के सभी राष्ट्र स्वेच्छानुसार अपनी-अपनी आन्तरिक नीति निर्धारित करने में स्वतन्त्र थे परन्तु फिर भी वह नीति सफल न हो सकी और उसकी असफलता के कारण सैकड़ों और हज़ारों लोग बेकारी में आ गए। विदेशी विनिमय-दर घटती-

* An inconvertible paper is viewed with uneasiness. People fear, and not without reason "that at will be issued in excess. Governments which have recourse to it are strongly tempted to escape the unpopularity of taxing the people openly by taxing them indirectly through the emission of more notes."

—Chapman-Outlines of Political Economy pp. 244-45.

बढ़ती रही और भुगतान-संतुलन विषम ही बना रहा। परिणाम यह हुआ कि अन्त में हार कर विदेशी व्यापार पर से प्रतिबन्ध हटाने पड़े"।*

कुछ मुद्रा-शास्त्रियों का मत है कि पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति इतनी दोषपूर्ण नहीं है जितनी समझी जाती है। उनका विश्वास है कि इस पद्धति के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य-स्तर स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के अन्तर्गत रहने वाले मूल्य स्तर की अपेक्षा कम स्थायी नहीं रहते वरन् उतने ही स्थायी बने रहते हैं। जहां तक इस बात का प्रश्न है कि इस पद्धति में सरकार आवश्यकता से अधिक नोट चला देती है तो इसके लिए इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के अन्तर्गत भी जब सरकार को धन की आवश्यकता होती है और वह अधिक ऋण नहीं ले सकती तो बिना किसी हिचकिचाहट के नोट छापकर चलाने लगती है और स्वर्ण-प्रमाप को छोड़ देती है। संसार के मौद्रिक इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। कुछ लोगों का तर्क है कि पत्र-मुद्रा पद्धति के अन्तर्गत विनिमय-दर को इतना स्थायी बनाया जा सकता है जितना स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के अन्तर्गत भी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु यह बात केवल तभी सत्य हो सकती है जब अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर पत्र-मुद्रा-प्रमाप अपनाया जाय। यदि कुछ देश इस पद्धति को अपनाएं और कुछ स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को मानें तो उन देशों के मूल्य-स्तर स्थायी नहीं रह सकेंगे। वास्तव में तो पत्र मुद्रा पद्धति का जन्म स्वर्ण-प्रमाप पद्धति की दुर्बलताओं और दोषों के कारण हुआ और इन्हीं कारणों से लोगों ने पत्र-मुद्रा पद्धति का प्रचार किया। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि सामान्यतः स्वर्ण प्रमाप किसी भी संचालित-पत्र-मुद्रा प्रमाप से अच्छा है और यदि पत्र-मुद्रा पद्धति का संचालन ठीक-ठीक न किया जाय तो उससे लोगों को इतनी भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है जितनी किसी भी प्रकार की स्वर्ण-प्रमाप पद्धति से नहीं उठानी पड़ती।

कुछ भी हो, पत्र-मुद्रा-प्रमाप पद्धति के दोष और कठिनाइयां अब अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से दूर हो गए हैं। इसके द्वारा अब स्वर्ण-प्रमाप के सभी लाभ प्राप्त हो सकते हैं। विनिमय-दर को स्थायी बनाने तथा समय समय पर आवश्यकतानुसार उसमें हेर-फेर करने की व्यवस्था भी कर दी गई है।**

* "The post-1931 managed currency system failed as completely as the gold standard. The nations have indeed been free to pursue internal policies of their own choosing, but the hundreds of thousands of unemployed in the export industries have been silent witnesses to the limitations of the scope for a purely internal policy, however well conceived and successfully executed. Fluctuating exchanges have not restored the nations' balances of payments to equilibrium and thereby removed the necessity for throttling restrictions on foreign trade."
—Geoffrey Crowther (quoted by R. N. Mathur)

** इसका विस्तृत वर्णन आगे देखिए—"अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष"

(४) आदर्श मुद्रा-प्रमाप पद्धति के लक्षण:

पिछले पृष्ठों में हम भिन्न-भिन्न मुद्रा-पद्धतियों का अध्ययन कर चुके हैं। प्रत्येक पद्धति में कुछ-न-कुछ गुण और दोष रहे हैं जिसकी वजह से हम किसी भी पद्धति को आदर्श-पद्धति नहीं कह सकते। अतः अब हमें देखना चाहिए कि आदर्श-पद्धति में कौन-कौन-से लक्षण होना आवश्यक है। ये लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) सरलता (Simplicity)

मुद्रा-प्रमाप पद्धति सरल होनी चाहिए जिसको सामान्य जनता सुगमता से समझ सके और उसके प्रति अपना विश्वास बना सके। जो पद्धति जटिल होती है उसमें जनता का विश्वास नहीं हो पाता और उसके चलाने में भी कठिनाई होती है। स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति बहुत जटिल पद्धति है जिसको जनता सरलता से नहीं समझ पाती।

(२) मितव्ययिता (Economy)

पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमें अधिक व्यय न हो। न तो उसे चलाने के लिए क़ीमती धातुओं की आवश्यकता होनी चाहिए और न उसके प्रबन्ध और संचालन में अधिक व्यय होना चाहिए। स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप पद्धति बहुत ख़र्चीली पद्धति है जिसे चलाने के लिए सोने के सिक्कों की आवश्यकता होती है। अतः यह पद्धति आजकल कहीं पर भी नहीं अपनाई जा सकती।

(३) स्वयं-पूर्ण कार्यशीलता (Automaticity)

पद्धति स्वयंपूर्ण-कार्यशील होनी चाहिए अर्थात् ऐसी होनी चाहिए जो स्वयं ही चलती रही और जिसमें सरकार के हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता न हो। जिस पद्धति में सरकार का हस्तक्षेप अधिक होता है उसमें जनता का विश्वास कम होने लगता है। पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा स्वतः ही घटती-बढ़ती रहे। इस काम में सरकार के आश्रय या हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। निर्देशांक-पद्धति स्वर्ण विनिमय प्रमाप तथा स्वर्ण-धातु प्रमाप पद्धतियों में सरकार का हस्तक्षेप बहुत होता है।

(४) लोच या लचक (Elasticity)

पद्धति लोचदार होनी चाहिए अर्थात् ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा देश के उद्योग और व्यापार के अनुकूल घटती-बढ़ती रहे। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए मुद्रा-पद्धति में लोच होना अनिवार्य है। स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप पद्धति लोचदार है परन्तु ख़र्चीली है।

(५) मूल्य-स्थिरता (Stability in Value)

मुद्रा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत देश के मूल्य-स्तर तथा विदेशी-विनिमय की दर में स्थिरता तथा स्थायित्व रक्खा जा सके।

इन लक्षणों के आधार पर यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौन-सी मुद्रा-पद्धति आदर्श हो सकती है। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि आदर्श-मुद्रा-पद्धति का विशेष गुण यह है कि वह जनता में अपना स्थान बना ले और लोगों का उसमें विश्वास हो। यदि जनता का उसमें विश्वास न होगा तो सरल-से-सरल पद्धति का निभाना भी दूभर हो जायगा। विश्वास बनाने के लिए पद्धति में मूल्य स्थिरता लाने की क्षमता होनी चाहिए।* मुद्रा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत छोटे-बड़े मूल्य की सब प्रकार की मुद्राएँ चल सकें जिससे छोटे-मोटे सब प्रकार के भुगतान लेने-देने में सुविधा रहे। मुद्रा-पद्धति लोचदार, सरल तथा ऐसी होनी चाहिए कि परिस्थिति के अनुकूल बदली जा सके।

(५) भारत में मुद्रा-प्रमाप पद्धति

रजत-प्रमाप (Silver Standard)

हमारे देश में समय-समय पर भिन्न-भिन्न मौद्रिक पद्धतियाँ काम में आती रही हैं। सन् १८३५ से पहिले हमारे यहाँ सोने और चाँदी के तरह-तरह के सिक्के चलते थे परन्तु उनके आपस की अदल-बदल की कोई दर निश्चित नहीं थी। सबसे पहिले १८३५ में एक एक्ट बनाकर रजत-प्रमाप (Silver Standard) की स्थापना की गई जिसके अनुसार चाँदी का रुपया देश की प्रमुख अथवा प्रामाणिक मुद्रा बना दिया गया। इस रुपये की तोल १८० ग्रेन के बराबर थी जिसमें $\frac{११}{१२}$ भाग अर्थात् १६५ ग्रेन्स शुद्ध चाँदी थी। रुपये का स्वतन्त्र-टंकण था और वह असीमित मात्रा में लिया-दिया जा सकता था। १८७२ के पश्चात् चाँदी की मात्रा बढ़ने लगी जिसके फल-स्वरूप देश में रुपयों की संख्या बढ़ती गई। अन्त में सरकार ने १८९३ में रुपये का स्वतन्त्र-टङ्कण बन्द कर दिया और तभी रजत-प्रमाप (Silver Standard) का अन्त हो गया।

पंगु-प्रमाप (Limping Standard)

१८९८ में फ़ाउलर कमेटी ने पंगु-द्विधातुवाद (Limping Bi-metallism) की सिफ़ारिश की। उन्होंने कहा कि देश में सोने और चांदी—दोनों धातुओं के सिक्के चलें परन्तु स्वतन्त्र टङ्कण केवल सोने के सिक्कों का ही हो। इस प्रकार कुछ समय तक देश में पंगु-द्विधातुवाद (Limping Bimetallic Standard) चलाने के प्रयत्न किए गए परन्तु परिस्थितियों वश यह स्थापित नहीं किया जा सका।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप

फ़ाउलर कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार काम करने का प्रयत्न करते-करते १९०७-०८ में सरकार ने अचानक ही देश में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप (Gold

*"The main need of the hour today ... is more confidence. There can be be no surer route to there-establishment of confidence than the stabilisation of exchange.s"

—L.Robbins

Exchange Standard) स्थापित कर लिया। इसके अन्तर्गत देश में रुपये के सिक्के, नोट तथा अन्य सहायक सिक्के सांकेतिक-मुद्रा के रूप में चलते थे और विदेशी भुगतान के लिए उनके बदले में सोना मिल सकता था। सरकार के पास दो कोष थे जिनमें से एक देश में रहता था तथा दूसरा लन्दन में भारत-मन्त्री के पास रक्खा जाता था। सरकार इस पद्धति का संचालन कौंसिल-बिलों तथा रिवर्स-कौंसिल-बिलों के द्वारा करती थी (इसका विस्तृत वर्णन 'भारतीय-मुद्रा के इतिहास' नामक अध्याय में पढ़िये) परन्तु यह पद्धति भी अधिक समय तक नहीं चल सकी। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर संसार की विषम परिस्थितियों में सरकार ने इसको चलाने का प्रयत्न किया परन्तु युद्ध-कालीन संकट के कारण १९१६-१७ में यह पद्धति टूट गई।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् १९२० में बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी ने रुपये का सोने के साथ गठबन्धन करके स्वर्ण-विनिमय प्रमाप तथा स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप का भान कराया। परन्तु रुपये और सोने का गठ-बन्धन भी अधिक समय तक न चल सका।

स्वर्ण-धातु प्रमाप

१९२५ में हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण-धातु प्रमाप की सिफ़ारिश की। इस सिफ़ारिश के अनुसार सरकार ने १९२७ में करेंसी-एक्ट पास किया जिसके अनुसार सरकार निश्चित मात्रा में निश्चित-दर पर जनता को सोना बेचती तथा उससे सोना ख़रीदती थी। उस समय सोना मूल्य-मापक था परन्तु विनिमय माध्यम नहीं था। जनता सरकार से सोना किसी भी काम के लिए ख़रीद सकती थी परन्तु निश्चित मात्रा से कम सोना नहीं ख़रीदा जा सकता था। इस एक्ट के अनुसार देश में स्वर्ण-धातु प्रमाप स्थापित किया गया। परन्तु सरकार इसके विरुद्ध सोना ख़रीदने वालों को या तो सोना दे सकती थी और या लन्दन में चुकाए जाने वाले स्टर्लिङ्ग दे सकती थी। प्रायः सरकार स्टर्लिङ्ग ही दिया करती थी परन्तु उस समय स्टर्लिङ्ग सोने पर आधारित-मुद्रा थी इसलिए यह ही कहना ठीक होगा कि उस समय देश में स्वर्ण-धातु प्रमाप या स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप स्थापित रहा। यह प्रमाप १९३१ तक चलता रहा।

स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप

१९३१ में स्टर्लिङ्ग का सोने से सम्बन्ध टूट गया और तब रुपया भी केवल स्टार्लिङ्ग में ही १ रु० = १ शि० ६ पें० की दर से परिवर्तित हो सकता था। अतः १९३१ के सितम्बर से देश में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप (Sterling Exchange Standard) चलता रहा। देश की मुद्रा स्टर्लिङ्ग के साथ बंध गई। युद्धकाल में भी हमारे देश में स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप (Sterling Exchange Standard) ही था।

भारत का वर्तमान प्रमाप

युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से संसार भर की मौद्रिक पद्धति में एक भारी परिवर्तन हुआ। अनेक देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का सम-मूल्य (Par-value) सोने में व्यक्त कर दिया है। भारत ने भी रुपये का मूल्य सोने में ०.२६८६०१ ग्राम निश्चित कर दिया है। इस प्रकार संसार के अधिकांश देशों की मुद्राओं का मूल्य सोने में व्यक्त होने के कारण एक प्रकार से अब स्वर्ण-प्रमाप फिर स्थापित हो गया है जिसके अन्तर्गत सोना मुद्राओं का मूल्य-मापक है। मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों की मुद्राएँ आज कोष की सहायता से एक-दूसरे में बदली जा सकती हैं। भारतीय मुद्रा के बदले में भी कोष के सदस्य-देशों की सब मुद्राएँ प्राप्त की जा सकती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आज स्वर्ण-प्रमाप नया रूप लेकर हमारे सामने आया है जिसमें सोना अधिकाँश मुद्राओं का मूल्य-मापक है। या यह भी कह सकते हैं कि आज "बहुमुद्रा-प्रमाप पद्धति" (Multiple Currency Standard) है जिसमें एक मुद्रा का अनेक मुद्राओं से सम्बन्ध है। (विशेष ज्ञान के लिए "अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष" का अध्याय पढ़िए।)

भारत में मौद्रिक पद्धतियों का ऐतिहासिक चित्रण

(१८३५—१८९३)	रजत प्रमाप (Silver Standard)
(१८९८—१९०१)	पंगु-प्रमाप (Limping Standard) स्थापित करने के असफल प्रयत्न।
(१९०७—१९१७)	स्वर्ण विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard)
(१९२७—१९३१)	स्वर्ण धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard) मिश्रित (Cum) स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप (Sterling Exchange Standard)
१९३१—१९४६)	स्टर्लिङ्ग-विनिमय प्रमाप (Sterling Exchange Standard)
वर्तमान प्रमाप	बहु-मुद्रा प्रमाप या स्वर्ण प्रमाप (Multiple Currency Standard) or (Gold Standard)

प्रश्न

१. "मौद्रिक प्रमाप" किसे कहते हैं ? आदर्श मौद्रिक प्रमाप पद्धति में कौन-कौन गुण होना आवश्यक है ? समझाकर लिखिए।

२. 'एक-धातुवाद' किसे कहते हैं ? एक-धातुवाद के भेद लक्षण सहित समझाइये।

३. स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के मुख्य-मुख्य लक्षण कौन-से हैं ? आधुनिक स्वर्ण प्रमाप तथा प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप में क्या अन्तर है ? स्पष्ट लिखिए।

४. किसी देश की मौद्रिक पद्धति में सोने और चाँदी का समावेश किस किस प्रकार किया जा सकता है ?

५. स्वर्ण-मुद्रा प्रमाप, स्वर्ण-धातु प्रमाप तथा स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का लक्षण सहित भेद दर्शाइए।

६ 'द्विधातुवाद" से आप क्या समझते हैं ? इस पद्धति की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ कौन-सी हैं ? पहिले यह क्यों टूट गया था ? क्या अब इसका पुनरोद्धार सम्भव है ?

७. "द्विधातुवाद की समातुलन क्रिया" से आप क्या समझते हैं ? द्विधातु-वाद में इसका क्या महत्त्व है ?

८. पत्र-मुद्रा प्रमाप पद्धति से आपका क्या अर्थ है ? लक्षण सहित उत्तर लिखिए तथा उसके गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

९. भारत में कौनसी मौद्रिक पद्धति है ? उसके लक्षण समझाइये।

१०. निकट भविष्य में सर्वाङ्गपूर्ण स्वर्ण प्रमाप संस्थापित करने की क्या आशाएँ हैं ? तर्कपूर्ण उत्तर लिखिए।

११. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए :—

(अ) समानान्तर-मुद्रा पद्धति (Parallel Standard),
(ब) मिश्रित-धातु प्रमाप पद्धति (Sym-metallism),
(स) पंगु-प्रमाप (Limping Standard),
(द) स्वर्ण-विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard),
(म) नव-द्विधातुवाद (Neo-bimetallism),
(फ) द्विधातुवाद का समातुलन सिद्धान्त (Compensatory principle of Bimetallism),
(ह) बहु-मुद्रा प्रमाप (Multiple Currency Standard),
(य) स्वर्ण-कोष प्रमाप (Gold Reserve Standard),

१२. भारत में मौद्रिक पद्धतियों की ऐतिहासिकता पर एक निबन्ध लिखिए।

१३. स्वर्ण-कोष प्रमाप पर एक टिप्पणी लिखिए।

———

अध्याय ११

मुद्रा-प्रमाप पद्धतियाँ (क्रमशः)

स्वर्ण-प्रमाप का ऐतिहासिक वर्णन—उसका वर्तमान रूप

पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है कि १६ वीं शताब्दी के अन्त तक द्विधातुवाद स्थापित करने के अनेक प्रयत्न होते रहे परन्तु द्विधातुवाद की अनेक कठिनाइयों के कारण (जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है) यह पद्धति न अपनाई जा सकी। चाँदी के भावों में भी अधिक उतार-चढ़ाव होते रहने के कारण रजत-प्रमाप (Silver Standard) का भी परित्याग कर दिया गया। अन्त में संसार के अनेक देशों में स्वर्ण-प्रमाप ही माना जाने लगा। केमरर नामक मुद्रा-शास्त्री ने 'गोल्ड एवं गोल्ड-स्टैण्डर्ड' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि उस समय स्वर्ण-प्रमाप माने जाने के चार प्रमुख कारण थे—

(अ) १६ वीं शताब्दी में सोने के मूल्य में सामान्यतः स्थिरता बनी रही जिससे स्वर्ण प्रमाप को चलाने में कोई आपत्ति न हुई।

(ब) सोना-चाँदी व अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक मूल्यवान था जिससे राशि को गति शील बनाने में सोने को लाने-ले जाने से अधिक सुविधा रहती थी।

(स) उस समय सोना पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकता था। किसी भी मात्रा में सोने का क्रय-विक्रय किया जा सकता था।

(द) सोने के भावों पर उसके उत्पदन का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था क्योंकि टकसाल में उसके क्रय-विक्रय का मूल्य निश्चय रहता था।

इन कारणों से १६ वीं शताब्दी में स्वर्ण-प्रमाप की विजय रही और संसार के अनेक राष्ट्र इसको मानते रहे।

(१) प्रथम युद्धपूर्व कालीन स्वर्ण-प्रमाप
(१६१४ से पूर्व)

प्रथम युद्ध काल से पहिले इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि प्रमुख देशों में स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप पद्धति (Gold Currency Standard) मानी जाती थी। इसके अन्तर्गत सोना 'विनिमय-माध्यम' का काम भी करता था और 'मूल्य-मापक' भी था। सोने के सिक्के चलाए जाते थे और ये ही सिक्के देश की प्रमाणिक या प्रमुख-मुद्रा होते

थे। इन सिक्कों का देश स्वतन्त्र-टङ्कण था अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना ले जा कर सरकारी टकसाल से बदले में सोने के सिक्के ला सकता था। सोने के सिक्कों के साथ-साथ इन देशों में अन्य प्रकार के सहायक सिक्के भी चलते थे परन्तु इनका सोने के सिक्कों के साथ मूल्य-सम्बन्ध होता था। विदेशी विनिमय का आधार भी सोना ही था। सोने के सम-मूल्य पर ही देश-विदेशों में ऋणों का भुगतान होता था और इनकी विदेशी-विनिमय-दर 'स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु' (Gold Export Point) तथा 'स्वर्ण-आयात-बिन्दु' (Gold Import Point) के बीच उतरती-चढ़ती रहती थी। सोने के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता था। सोने के सिक्कों के चलने में सोने की घिसावट से होने वाली हानि को बचाने के लिए इन देशो में कागज़ के नोट भी चलाए जाते थे परन्तु ये सोने में परिवर्तनीय होते थे ; अर्थात् किसी भी समय इन नोटों को सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता था। इस काम के लिए नोट छापकर चलाने वाली बैंकों को अपने पास सोने के कोष रखने पड़ते थे। इस प्रकार देश का अधिकांश सोना बैंकों के पास उनके कोष में बन्द पड़ा रहता था। इसमें मितव्ययिता लाने के उद्देश्य से कोषों का केन्द्रीकरण करना उचित समझा गया जिसके लिए प्रत्येक देश में केन्द्रीय-बैंकों की स्थापना की गई जो साख-मुद्रा और पत्र-मुद्रा का संचालन करते थे तथा देश में सोने के कोष का भी प्रबन्ध करते थे। इन्हीं केन्द्रीय-बैंकों के द्वारा सोने का क्रय-विक्रय एक निश्चित दर से किया जाता था। इस प्रकार, सोने का क्रय-विक्रय तथा आयात-निर्यात स्वतन्त्र होने के कारण इस पद्धति में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic Working) बनी रहती थी जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं के मूल्य-स्तर अपने आप समानता में बने रहते थे। इस बात को हम एक उदाहरण लेकर भलीभांति समझ सकते हैं। मान लो, यदि किसी देश की मुद्रा की विनिमय-दर अन्य मुद्राओं की अपेक्षाकृत बढ़ जाती तो उस देश का मूल्यस्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा हो जाता था और तब वहाँ आयात अधिक होने लगता था। इसी प्रकार अन्य देशों के मूल्य-स्तर उस देश की अपेक्षा नीचे हो जाते थे जिससे वहाँ से निर्यात बढ़ने लगते थे। परिणाम-स्वरूप वह देश ऋणी बन जाता था तथा उसे ऋण भुगतान करने के लिए विदेशों में सोना भेजना पड़ता था। इससे मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती और मूल्यस्तर नीचे हो कर समानता में आ जाते थे तथा विनिमय-दर भी समानता में हो जाती थी। इस प्रकार इस पद्धति में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता थी। संक्षेप में, इस पद्धति के निम्न लक्षण थे :—

(१) सोना 'विनिमय का माध्यम' था तथा 'मूल्य-मापक' भी था। देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए सोने के सिक्के चलते थे। ये ही सिक्के देश के प्रमाणिक-मुद्रा माने जाते थे तथा अन्य मुद्राओं का मूल्य इन्हीं के साथ सम्बन्धित होता था।

(२) सोने के सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण (Free coinage) होता था अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर उसे सरकारी टकसाल से सोने के सिक्कों में बदलवा सकता था।

(३) सोने का आयात-निर्यात स्वतन्त्र था।

प्रथम महायुद्ध से पहिले स्वर्ण-प्रमाप एक दूसरे रूप में भी माना जाता था जिसे स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पद्धति (Gold Exchange Standard) कहते हैं। इस पद्धति का मूल उद्देश्य सोने के उपयोग में मितव्ययिता लाना तथा स्वर्ण-प्रमापी और रजत-प्रमापी देशों की विनिमय-दर में स्थिरता रखना था जिससे रजत-प्रमापी देशों में भी वैदेशिक व्यापार बढ़ाया जा सके। इस पद्धति के अन्तर्गत देश में सोने के सिक्के नहीं चलते थे वरन् देशी व्यापारिक लेन-देन में चाँदी के सिक्कों तथा नोटों का प्रयोग होता था। ये चाँदी के सिक्के और नोट असीमित संख्या में लिए-दिए जा सकते थे। देशी कामों के लिए ये मुद्राएं सोने में परिवर्तित नहीं होती थीं किन्तु विदेशी भुगतान के लिए इनके बदले में सरकार सोना या विदेशी मुद्राएं देने को बाध्य होती थी। इसके लिए सरकार को केन्द्रीय बैंक में देशी मुद्रा का एक कोष रखना पड़ता था जिससे वे विदेशी भुगतान लेकर देश में देशी मुद्रा दे सकें। इसी प्रकार सरकार को विदेशी बैंकों में भी एक सोने का कोष रखना पड़ता था जिसमें से विदेशी भुगतान किए जा सकें। यह पद्धति जावा, हालैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी, भारत तथा अन्य अनेक देशों में मानी जाती थी। वास्तव में इस पद्धति के दो रूप थे।

एक, उन देशों में पारस्परिक विनिमय-दर स्थापित करना जो स्वर्ण-प्रमाप मानते थे अथवा जिनकी मुद्रा का सोने से मूल्य-सम्बन्ध था।

दूसरे, ऐसे देशों में पारस्परिक विनिमय-दर स्थापित करना जिनमें से एक देश सोने पर तथा दूसरा चाँदी पर आधारित था।

भारत में पद्धति दूसरे रूप में मानी जाती थी जिसमे भारतीय रुपये का इङ्गलैण्ड के स्टर्लिङ्ग के साथ १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर से गठ-बन्धन था। परन्तु स्टर्लिङ्ग सोने पर आधारित था इसलिए हम अपनी पद्धति को स्वर्ण-विनिमय प्रमाप पद्धति कहते थे। इसके अन्तर्गत विनिमय-दर को स्थिर बनाने में सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती थी इसलिए यह पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील (Automatic) नहीं थी। संक्षेप में, इस पद्धति के निम्न लक्षण थे:—

(१) देश में सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते थे। इसका अर्थ यह है कि सोना 'विनिमय-माध्यम' का काम नहीं करता था।

(२) देश में आन्तरिक प्रयोग के लिए चाँदी के सिक्के, कागज़ के नोट तथा अन्य प्रकार के सिक्के चलते थे। इनका मूल्य सोने के साथ या सोने पर आधारित किसी विदेशी मुद्रा के साथ निर्धारित कर दिया जाता

था। देशी कार्यों के लिए इन मुद्राओं के बदले में सोना नहीं मिल सकता था परन्तु विदेशी भुगतान करने के लिए सरकार इनके बदले में सोना या सोने पर आधारित विदेशी-मुद्रा देने का बाध्य होती थी।

(३) सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते थे—एक कोष देश में रखना पड़ता था जिसमें देशी मुद्राएँ होती थीं। दूसरा कोष विदेश में रखना पड़ता था जिसमें सोना या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा होती थी। इन्हीं कोषों के द्वारा सरकार मुद्रा की विनिमय-दर स्थिर बनाती थी।

(४) सोने का आयात-निर्यात नहीं होता था वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता था।

भारत में युद्ध पूर्व-कालीन स्वर्ण-विनिमय प्रमाप

भारत में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप पद्धति १९०७-०८ में स्थापित हुई और युद्धकाल तक चलती रही। उस समय भारत-सरकार पर विदेशी ऋणों का भुगतान सोने में चुकाने की वैधानिक ज़िम्मेदारी थी। उसी प्रकार इङ्गलैण्ड के आयातकों द्वारा भारत में चुकाए जाने वाले ऋणों को रुपयों में चुकाने की जिम्मेदारी इङ्गलैण्ड में भारत-मन्त्री (Secretary of State to India) पर थी। इस प्रकार यह पद्धति सब प्रकार से सरकार की व्यवस्था एवं नियन्त्रण में थी जिसमें भारत-मन्त्री और भारत-सरकार दोनों अलग-अलग दो बैंकों का काम करते थे। देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए चांदी का रुपया ही प्रमाणित मुद्रा थी परन्तु विदेशी भुगतान के लिए यह रुपया १ शि० ४ पें० की दर पर स्टर्लिङ्ग में बदला जाता था। भारत-सरकार के पास दो कोष थे—एक कोष इङ्गलैण्ड में भारत-मन्त्री के पास रहता था और दूसरा कोष भारत में रक्खा जाता था। जब कभी भारत के किसी व्यापारी को इङ्गलैण्ड में भुगतान करना होता था तो वह भारत-सरकार से स्टर्लिङ्ग-बिल या रिवर्स-कौंसिल-बिल (Sterling Bill or Reverse Council Bill) ख़रीद लेता और बदले में १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर पर रुपया जमा कर दिया करता था। वह स्टर्लिङ्ग-बिल को इङ्गलैण्ड भेज देता जहां भारत-मन्त्री उसके बदले में कोष में से पौण्ड चुका दिया करते थे। इसी प्रकार यदि कभी इङ्गलैण्ड के व्यापारी को भारत में भुगतान चुकाना होता तो वह लन्दन में भारत-मन्त्री से रुपये के बिल या कौंसिल-बिल (Rupee Drafts or Council Bills) ख़रीद कर पौण्ड जमा कर दिया करता था। वह इस बिल को भारत में भेज देता था और यहां उसके बदले में भारत-सरकार कोष में से रुपये चुका दिया करती थी। इस प्रकार सरकार अपने हाथों से इस पद्धति का संचालन करती थी। यह पद्धति लगभग १९१७ तक चलती

रही। युद्धकाल की असाधारण परिस्थितियों के कारण सरकार इसको न निभा सकी और तब यह पद्धति छोड़नी पड़ी।*

(२) युद्ध-काल में स्वर्ण-प्रमाप की स्थिति

(१९१४–१९१९)

युद्ध आरम्भ होने तक स्वर्ण-प्रमाप का भली प्रकार पालन किया जाता रहा। लगभग सभी स्वर्ण-प्रमापी देशों में मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर स्थिर और स्थायी बनी रहीं। यद्यपि इन देशों की आर्थिक-परिस्थितियां और अर्थ-व्यवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं परन्तु स्वर्ण-प्रमाप पद्धति के द्वारा इनमें पारस्परिक मौद्रिक सहयोग बना रहा। सब देशों के मूल्य-स्तर समानता में रहे तथा उनमें समरूपता बनी रही। ऐसा मालूम होता था मानों सब स्वर्ण-प्रमापी देशों की मुद्राएँ एक अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा अर्थात् स्वर्ण की ही शाखाएँ हैं और इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ एक दूसरे पर आश्रित हैं। परन्तु यह गति अधिक समय तक न चल सकी। किसी ने कहा है कि स्वर्ण-प्रमाप तो एक ऐसा देवता है जो निरन्तर तथा नियम-पूर्वक साधना करने से ही प्रसन्न रह सकता है; यदि इस साधना में तनिक भी त्रुटि हुई तो वह अवश्य रुष्ट हो जाता है और तब सारा काम बिगाड़ देता है**। स्वर्ण-प्रमाप भी तभी चल सकता था जबकि सभी स्वर्ण-प्रमापी देशों के केन्द्रीय-बैंक ईमानदारी के साथ विनिमय-दर को स्थायी बनाने के प्रयत्न करते और सोने के आयात-निर्यात के साथ-साथ साख की मात्रा क्रमशः बढ़ाते और घटाते रहते। युद्ध-काल में ऐसा न हुआ। युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही अनेक स्वर्ण-प्रमापी देशों ने सोने के सिक्के बनाकर चलाना बन्द कर दिया। इङ्गलैण्ड में तो सोने के सिक्के बनाना तथा सोने का आयात-निर्यात भी बन्द कर दिया गया। युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा और इसके लिए सोने के सिक्कों के बदले में कागज़ के नोट चलाए जाने लगे। कुछ राजनैतिक परिस्थितियां ऐसी बन चुकी थीं जिनमें सोने का संचय करना ही हितकर था तथा कुछ आर्थिक कारण भी थे जिनकी वजह से सोने को सुरक्षित रखना ही श्रेयस्कर समझा गया। कुछ भी हो, युद्धकाल में स्वर्ण-प्रमाप टूट गया। अमेरिका जैसे देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए थे। हमारे देश में भी युद्ध की विषम परिस्थितियों के कारण रुपये

---

* विशेष अध्ययन के लिए आगे "भारतीय चलन (करेन्सी) का इतिहास" नामक अध्याय देखिए।

**The Gold Standard is a Jealous god. It will work provided it is given exclusive devotion.

की विनिमय-दर को स्थिर और स्थायी न रक्खा जा सका और स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप टूट गया।

(३) युद्धोत्तर-कालीन स्वर्ण-प्रमाप
(१६२० के पश्चात्)

स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृति (Restoration of Gold Standard)

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् अनेक देशों में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर स्वर्ण-प्रमाप प्रस्थापित करने की योजनाएं बनाई गईं। इस उद्देश्य से १६२० में ब्रूसेलस नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-परिषद् बुलाई गई जिसमें स्वीकृत किया गया कि जिन देशों ने स्वर्ण-प्रमाप को तोड़ दिया है वे फिर उसको स्थापित कर लें। इसके दो वर्ष बाद ही जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय-अर्थ-परिषद् बुलाई गई। इस परिषद् में घोषणा की गई कि "प्रत्येक देश की मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व (Stability) होना आवश्यक है जिससे वहां का आर्थिक पुनर्संगठन हो सके और योरप में स्वर्ण को मुद्राओं का आधार बनाया जा सके।"

युद्ध के पश्चात् संसार के अधिकांश राष्ट्रों में स्वर्ण-प्रमाप प्रस्थापित कर लिया गया। सबसे पहिला देश जहां स्वर्ण-प्रमाप का पुन: स्थापन हुआ, सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका था। यहां १६१६ में ही सोने के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़ दिए गए। इसके बाद अन्य देशों ने भी स्वर्ण-प्रमाप अपना लिया। इङ्गलैण्ड में स्वर्ण-प्रमाप का पुन: स्थापन १६२५ में तथा भारत में १६२७ में किया गया। युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित करने के दो कारण थे :—

(१) अनेक देश अपने मौद्रिक क्षेत्रों में युद्धपूर्व जैसी सामान्य परिस्थिति लाना चाहते थे परन्तु यह परिस्थिति तभी पैदा हो सकती थी जबकि वे स्वर्ण-प्रमाप को पुनः स्थापित कर लेते। अतः सामान्य परिस्थिति पैदा करने की कामना से अनेक देशों में स्वर्ण-प्रमाप मान लिया गया।

(२) युद्ध-काल में तथा युद्ध के बाद भी अनेक योरपीय देशों में भयंकर मुद्रा-स्फीति हुई जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य-स्तर आकाश को छूने लगे। जर्मनी में तो युद्ध-काल के पश्चात् वस्तुओं के मूल्य-स्तर युद्ध-पूर्व के मूल्य-स्तरों की अपेक्षाकृत लाखों और करोड़ों गुने अधिक ऊँचे हो गए थे। ऐसी भयंकर मुद्रास्फीति के दुखद परिणामों से त्रस्त होकर प्रत्येक देश स्वर्ण प्रमाप स्थापित करने के प्रयत्न करने लगा क्योंकि सब समझते थे कि स्वर्ण-प्रमाप ही एक ऐसा साधन है जिसको अपनाने से मुद्रा स्फीति की संभावना नहीं रहती। योरप के अधिकांश देशों का विश्वास था कि स्वर्ण-प्रमाप के द्वारा ही मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व पैदा किया जा सकता है। अतः युद्ध समाप्त होने के बाद

> दस वर्षों के अन्दर-ही-अन्दर अधिकांश देशों ने स्वर्ण-प्रमाप लौटा लिया। *

युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित करने की समस्या भिन्न-भिन्न देशों के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार से थी। अमेरिका ने तो युद्ध-काल में केवल थोड़े समय के लिए सोने का निर्यात बन्द किया था परन्तु १९१९ में यह प्रति बन्ध तोड़ दिया और फिर स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया। वहाँ वस्तुओं के मूल्य-स्तर ऊँचे अवश्य हुए थे परन्तु इतने अधिक ऊँचे नहीं थे जितने अन्य देशों में थे। अतः अमरीका को स्वर्ण-प्रमाप लौटाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कुछ देश ऐसे थे जो युद्ध से बिलकुल अछूते रहे थे और उन पर युद्ध का कोई विशेष प्रभाव नही था। यद्यपि इन देशों ने युद्ध-काल में नोटों का सोने में परिवर्तन करना बन्द कर दिया था और इसलिए इनके यहां मूल्य-स्तर कुछ ऊंचा हो गया था परन्तु फिर भी वह अमेरिका के मूल्य स्तर के समान ही था। इन देशों ने भी बिना किसी विशेष कठिनाई के युद्ध-पूर्व दर पर ही स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर लिया। ये देश स्विटज़रलैण्ड, हालैण्ड तथा स्केण्डीनेवियन प्रदेश थे। स्पेन ही एक ऐसा देश था जिसने युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित नहीं किया।

इङ्गलैण्ड में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति—१९२५
(Restoration of Gold Standard in England)

युद्ध के पश्चात् इङ्गलैण्ड की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। इङ्गलैण्ड का मूल्य-स्तर अमेरिका के मूल्य-स्तर की अपेक्षा बहुत ऊँचा था। परन्तु १९२२ के आरम्भ में दोनों देशों के मूल्य-स्तरों में २० प्रतिशत से भी कम का अन्तर था। उसी वर्ष इङ्गलैण्ड के मूल्य-स्तर नीचे गिर गए और तब इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के मूल्य-स्तरों में बहुत कम अन्तर रह गया। १९२३ के अन्त में और १९२४ के आरम्भ में इङ्गलैण्ड के मूल्य फिर ऊँचे हो गए किन्तु तीन महीने के पश्चात् फिर गिरने लगे।

---

* The second impelling force was the appalling chaos produced in Continental Europe by the wild Inter-war inflation, which carried prices in Germany to one million million times their pre-war level, and in other countries to levels only slightly less astronomical. The misery and dislocation produced by the inflation brought to.........the first principle of monetary wisdom. The Gold Standard does ....nip any such wild inflation long before it has even formed into the bud. This assurance ....of desire to return to the Gold Standard which enabled the whole movement of restoration.........within ten years of the Armistice.

—Outline of Money - Georffrey Crowther. pp. 309-310.

अप्रैल १९२५ में इङ्गलैण्ड की सरकार ने १ पौण्ड ४·८६$\frac{2}{3}$ डॉलर के बराबर घोषित कर दिया। पौण्ड की यह विनिमय-दर वही थी जो युद्ध से पहिले काम आती थी। १९२५ में स्वर्ण-प्रमाप के पुनः स्थापन के लिए सरकार ने 'स्वर्ण-प्रमाप क़ानून' (Gold Standard Act) पास किया जिसके अनुसार सोने का स्वतन्त्र-टङ्कण तथा नोटों का सोने के सिक्कों में परिवर्तन बन्द कर दिया गया। बैंक ऑफ़ इङ्गलैण्ड को अधिकार दे दिया गया कि वह ३ पौण्ड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पें० प्रति औंस की दर-से-कम से कम ४०० औंस की तौल में स्वर्ण-धातु बेचा करे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति नोटों को ४०० औंस से कम मात्रा में सोने में परिवर्तित नहीं करा सकता था जिससे बैंक का सोना जनता के पास जाने से बच जाता था। इस पद्धति के अन्तर्गत इङ्गलैण्ड में सोने के सिक्कों का चलन बन्द कर दिया गया। अब इङ्गलैण्ड में युद्ध-पूर्व की भांति स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप (Gold Currency Standard) नहीं रहा वरन् स्वर्ण-धातु-प्रमाप (Gold Bullion Standard) हो गया।

इङ्गलैण्ड की सरकार द्वारा निश्चित की हुई पौण्ड की विनिमय-दर पर काफ़ी वाद-विवाद रहा। लोगों का कहना था कि वास्तव में तो पौण्ड का डॉलर-मूल्य कम हो गया है परन्तु सरकार ने जोड़-तोड़ करके ४·८६$\frac{2}{3}$ डॉलर के समान निश्चित कर दिया है जिससे पौण्ड का अस्वाभाविक बहुमूल्यन (Overvaluation) हो गया है। आलोचकों का विश्वास था कि पौण्ड का सम्मान बनाए रखने के लिए उसे ऊँची दर पर "टाँक" दिया गया है इसलिए पौण्ड और डॉलर वास्तविक समानता में तभी आ सकेंगे जब या तो इङ्गलैण्ड के मूल्य-स्तर नीचे हो जाँय और या अमेरिका के मूल्य-स्तर ऊँचे हो जाँय। उनका विश्वास था कि पौण्ड और डॉलर को समानता में आने के लिए इङ्गलैण्ड या अमेरिका में मूल्यों के समायोजन (Adjustment) करने में अधिक संकट का सामना करना पड़ेगा। परन्तु पौण्ड के बहुमूल्यन के पक्षपातियों का कहना था कि लन्दन जैसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मण्डी तथा पौण्ड जैसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का सम्मान रखने के लिए ऐसा संकट कोई असाधारण बात नहीं है इसलिए पौण्ड की विनिमय-दर ४.८६$\frac{2}{3}$ डॉलर ही रखनी चाहिए। वास्तव में तो इङ्गलैण्ड की सरकार ने पौण्ड के डॉलर-मूल्य का अनुमान लगाने में दो ग़लतियाँ कीं—

एक तो यह कि पौण्ड की पुरानी डॉलर-दर निर्धारित करने के कारण पौण्ड का जो बहुमूल्यन हुआ, उसकी सीमा का उन्होंने ग़लत अनुमान लगाया। उनका अनुमान था कि पौण्ड और डॉलर के बीच में केवल ५% की विषमता है [अर्थात् पौण्ड का निर्धारित डॉलर-मूल्य वास्तविक डॉलर-मूल्य से ५% अधिक है] परन्तु बात कुछ और ही थी। वास्तव में तो उन दोनों के मूल्यों में १०% की विषमता थी अर्थात् पौण्ड अपने वास्तविक डॉलर-मूल्य से १०% अधिक ऊँचे मूल्य पर "टाँक" दिया गया था। सच पूछा जाय तो १ पौण्ड ४·३८ डॉलर के बराबर था

परन्तु उसे जोड़-तोड़ करके ४·८६३ डॉलर के बराबर ऊँचा उठा कर रख दिया गया था। इससे पौण्ड का लगभग १०% बहुमूल्यन हो गया।

दूसरे, सरकार का अनुमान था कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका के मूल्य-स्तरों की विषमता सरलता से शनैः-शनैः दूर हो जायगी। उनकी धारणा थी कि इङ्गलैण्ड के लागत-व्यय साख-संकुचन करके कम किए जा सकेंगे और लागत-व्यय कम करके मूल्य-स्तर भी नीचे हो जायंगे। परन्तु यह उनका कोरा भ्रम था। साख-संकुचन (Contraction of Credit) किया गया तथा ब्याज-दर भी बढ़ाई गई जिससे लाभ कम हो गए और बेकारी फैलने लगी परन्तु बेकारी फैलने पर भी मज़दूरी की दर कम न हुई। सरकार ने मज़दूरी की दर कम करने के प्रयत्न भी किए परन्तु मज़दूरों में असन्तोष बढ़ता गया और हड़तालें होने लगीं। मज़दूरी कम न होने के कारण इङ्गलैण्ड के मूल्य-स्तर नीचे न हो सके। इङ्गलैण्ड के पौण्ड का डॉलर-मूल्य ऊंचा ही बना रहा और जैसी कि आशा थी पौण्ड और डॉलर समानता में आ ही न सकी और अन्त में हार कर इङ्गलैण्ड को सितम्बर १९३१ में स्वर्ण-प्रमाप सदैव के लिए छोड़ना ही पड़ा। [इसका वर्णन आगे दिया जायगा।]

पौण्ड का बहुमूल्यन करने से इङ्गलैण्ड ने १९२५ से १९३१ तक कई सबक़ सीखे। इङ्गलैण्ड को इससे कई हानियां रहीं। बैंक ऑफ़ इङ्गलैण्ड अपनी ब्याज-दर कभी नीची न कर सका क्योंकि उसे भय था कि कहीं देश का सोना विदेशों में न चला जाय। इङ्गलैण्ड का निर्यात-व्यापार भी ठप्प हो गया। मूल्य-स्तर ऊँचा रहने के कारण वहां का माल विदेशों में जाना बन्द हो गया जिससे निर्यातकों को बहुत हानि उठानी पड़ी।*

भारत में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति—१९२७
(Restoration of Gold Standard in India)

युद्ध के पश्चात् १९२५ में हमारे देश में हिल्टन यङ्ग कमीशन ने स्वर्ण-धातु प्रमाप (Gold Bullion Standard) की सिफ़ारिश की। तदनुसार १९२७ में करेन्सी-एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा १ रुपया १८ पेंस के बराबर निर्धारित कर दिया गया अर्थात् इस दर पर १ रुपया ८·४७५१२ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर था। सरकार को वैधानिक ज़िम्मेदारी दी गई कि वह २१ रु० ३ आ० प्रति तोले की दर से कम-से-कम ४० तोला या इससे अधिक सोना बम्बई की टकसाल पर ख़रीद सकती थी और २१ रु० ३ आ० प्रति तोले की दर से कम-से-कम १०६५ तोला या इससे अधिक सोना बम्बई की टकसाल पर बेच सकती थी या १ शि० ५ $\frac{37}{64}$ पें० प्रति रुपया की दर से लन्दन में चुकाए जाने वाले स्टर्लिङ्ग बेच सकती थी। इस

*विशेष अध्ययन के लिए देखिए (१) गोल्ड एण्ड गोल्ड स्टेण्डर्ड—केमरर
(२) दी क्रिटीग् ऑफ़ गोल्ड स्टेण्डर्ड—पकस्ले
(३) आउटलाइन ऑफ़ मनी—क्राउथर

प्रणाली के अन्तर्गत देश में उपर्युक्त शर्तों पर सोने की ख़रीद-बेच हो सकती थी परन्तु सोने के सिक्कों का चलन नहीं था। करेन्सी-एक्ट के अनुसार सरकार को सोना या स्टर्लिङ्ग बेचने का अधिकार था इसलिए सरकार प्रायः सोना न देकर स्टर्लिङ्ग ही दिया करती थी। अतः इस पद्धति को स्वर्ण-धातु-प्रमाप न कहकर स्टर्लिङ्ग-विनिमय-प्रमाप ही कहना अधिक उपयुक्त होगा किन्तु स्टर्लिङ्ग सोने में परिवर्तित होने के कारण हम इसे स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप भी कह सकते हैं।

अन्य देशों में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति
(Restoration of Gold Standard in other Countries)

अन्य देशों में भी वस्तुओं के मूल्य-स्तर ऊँचे हो जाने के कारण उन्हें अपनी-अपनी मुद्राओं की विनिमय-दर बदलनी पड़ी। फ्राँस में मूल्य-स्तर युद्ध पूर्व-काल की अपेक्षाकृत पाँच-गुने अधिक थे इसलिए फ्राँस ने अपनी मुद्रा (फ्रैंक) की दर २५ फ्रैंक = १ पौण्ड के स्थान पर १२४ फ्रैंक = १ पौण्ड निर्धारित की। जिन देशों के मूल्य-स्तर बहुत-बहुत ऊँचे हो गए थे उन्होंने नई मुद्रा चला कर उनकी नई विनियम-दर निर्धारित कर ली, जैसे जर्मनी ने रीशमार्क (Rerichmark) चलाया, आस्ट्रिया ने शिलिंग (Schilling) चलाए तथा हंगरी ने पैन्गो (Pengo) चलाए। ये नई मुद्राएँ पुरानी मुद्राओं के साथ उसी अनुपात में बदली जाती थी जिस अनुपात में वस्तुओं के मूल्य-स्तर बढ़ने के कारण पुरानी मुद्राओं का मूल्य गिर गया था। उदाहरणार्थ, जर्मनी की नई मुद्रा—रीशमार्क (Reichmark)—का पौण्ड के साथ वही अनुपात था जो युद्ध-पूर्व काल में रहा था परन्तु इस नई मुद्रा के बदले में जर्मनी को करोड़ों और लाखों पुरानी मुद्राएँ (मार्क) मिलती थीं क्योंकि नई मुद्राओं की अपेक्षाकृत पुरानी मुद्राओं का मूल्य बहुत गिर गया था। कुछ देशों ने तो अपनी-अपनी मुद्राओं की विनिमय-दर निर्धारित करते समय अपनी-अपनी मुद्रा का बहुमूल्यन (Overvaluation) कर लिया या अवमूल्यन (Undervaluation) कर लिया। इटली ने अपनी मुद्रा (लीरा) का बहुमूल्यन किया जिससे संसार के मूल्यों के साथ समता लाने के लिए उन्हें अपने मूल्य-स्तर गिराने पड़े। फ्राँस ने, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, अपनी मुद्रा का अव-मूल्यन किया जिससे वहां के मूल्य-स्तर शनैः-शनैः मन्दगति से बढ़ते रहे। इससे वहाँ के व्यापार और उद्योगों को काफ़ी प्रोत्साहन मिला और उनका निर्यात व्यापार भी उन्नति करने लगा।

इस प्रकार युद्ध के पश्चात् अनेक देशों ने स्वर्ण-प्रमाप को अपना लिया—उन देशों ने भी, जो युद्ध से पहिले स्वर्ण-प्रमाप को नहीं मानते थे, युद्ध के बाद अपनी-अपनी मुद्राओं को स्वर्ण के साथ सम्बन्धित कर दिया। १९२९ तक चीन, मैक्सिको तथा स्पेन को छोड़ लगभग सभी देशों में * स्वर्ण-प्रमाप स्थापित कर

* इसमें रूस की मुद्रा-पद्धति के विषय में विचार नहीं किया गया है।

लिया गया। यह याद रखना चाहिए कि बहुत-से देशों ने न स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप अपनाया और न स्वर्ण-धातु-प्रमाप अपनाया वरन् स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप स्थापित किया था। इङ्गलैण्ड तथा हमारे देश में तो स्वर्ण-धातु-प्रमाप स्थापित हुआ। अब हम देखें कि इस प्रमाप में तथा युद्ध-पूर्व कालीन स्वर्ण-प्रमाप में क्या साम्य-भेद है :—

युद्ध-पूर्व कालीन स्वर्ण-प्रमाप	युद्धोत्तर-कालीन स्वर्ण-प्रमाप
(१) सोना 'विनिमय-माध्यम' तथा 'मूल्य-मापन' का कार्य करता था।	(१) सोना केवल 'मूल्य-मापक' था 'विनिमय-माध्यम' नहीं।
(२) सोने के सिक्के चलाये जाते थे और इन सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण होता था।	(२) सोने के सिक्के न तो चलाये जाते थे और न उनका टङ्कण ही होता था।
(३) देश में पत्र-मुद्रा (नोट) तथा अन्य सहायक-सिक्के भी चलते थे परन्तु इनको स्वेच्छापूर्वक सोने के सिक्कों में बदलवाया जा सकता था।	(३) देश में नोट तथा अन्य सहायक-सिक्के थे परन्तु इनको केवल सोने की निश्चित तौल में ही बदलवाया जा सकता था अर्थात् ४०० औंस से कम तौल में सोना नहीं मिल सकता था।
(४) सोना देश के आन्तरिक कामों के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिए भी मिल सकता था।	(४) सोना किसी भी कार्य के लिए मिल सकता था परन्तु जनता प्रायः विदेशी भुगतान के लिए ही सोना लेती थी।
(५) यह पद्धति 'स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप' के नाम से प्रचलित थी। यह पद्धति स्वयं-पूर्ण कार्यशील (Automatic) थी। इसके अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्यों की स्थिरता पर अधिक ज़ोर दिया जाता था।	(५) इस पद्धति को 'स्वर्ण-धातु-प्रमाप' कहते थे। इसका संचालन देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक करते थे। इसके अन्तर्गत विदेशी-विनिमय दर पर अधिक ज़ोर दिया जाता था।

इस तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि युद्धोत्तर-कालीन स्वर्ण-प्रमाप में कई लाभ थे—

(१) इसमें स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप से मिलने वाले सब लाभ तो मिलते ही थे, इसके अतिरिक्त सोने के सिक्कों के चलने में जो व्यय और हानि होती है—उसकी भी बचत होती थी।

(२) कोष में सोना होने से विदेशी-विनिमय-दर को प्रभावशाली एवं बनाया जा सकता था तथा सोने में भी मितव्ययिता होती थी।

(४) स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग—सितम्बर १६३१

ऊपर बताया जा चुका है कि सन् १६२५ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप पुनः स्थापित कर लिया और १६२६ तक तो संसार के अनेक देशों ने किसी-न-किसी रूप में स्वर्ण-प्रमाप अपना लिया था। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। सितम्बर १६३१ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप तोड़ दिया। इङ्गलैण्ड के बाद ग्रीस, पुर्तगाल, जापान, दक्षिणी-अमेरिका तथा स्केण्डिनेवियन-प्रदेशों ने भी स्वर्ण-प्रमाप छोड़ दिया। अप्रैल १६३३ में डॉलर का सोने में परिवर्तन करना भी बन्द कर दिया गया। मध्य-योरप के अनेक राष्ट्रों ने यद्यपि अपनी-अपनी मुद्रा का मूल्य सोने के साथ बनाए रखने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने भी अपनी-अपनी मुद्राओं को सोने में बदलना बन्द कर दिया। फ्राँस तथा एक-दो अन्य राष्ट्र ऐसे थे जिन्होंने स्वर्ण-प्रमाप बनाए रखने की देर तक कोशिश की परन्तु १६३६ में उनको भी स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग करना पड़ा। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप के पुनः स्थापन से दस वर्ष के अन्दर-अन्दर संसार के लगभग सभी राष्ट्रों ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। यहाँ हम विचार करेंगे कि इस समय कौन-से ऐसे कारण उत्पन्न हुए जिनसे वाध्य होकर स्वर्ण-प्रमाप तोड़ना पड़ा। ये कारण निम्न थे :—

(१) सबसे प्रमुख कारण तो यह था कि युद्ध के पश्चात् संसार के अनेक देशों ने स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्यों को भुलाकर स्वार्थ-पूर्ण नीति अपना ली थी। यदि देखा जाय तो स्वर्ण-प्रमाप तभी चलाया जा सकता था जबकि संसार का प्रत्येक राष्ट्र एक-दूसरे के साथ क़दम-से-क़दम मिलाकर चलते और मौद्रिक-नीति में एक-दूसरे का सहयोग देते। युद्ध के पश्चात् भिन्न-भिन्न देशों की केन्द्रीय-बैंकों ने इस उद्देश्य को भुला दिया और कोई भी देश संसार के मूल्य-स्तरों के साथ अपने मूल्य-स्तर बनाए रखना नहीं चाहता था। युद्धकाल में मूल्य-स्तर बहुत ऊँचे हो गए थे परन्तु १६२०—२२ तक एक-दम नीचे जा गिरे। इन गिरते हुए मूल्यों के साथ-साथ मूल्य-स्तर गिराना कोई देश नहीं चाहता था और किसी-किसी को तो ऐसा करना अरुचिकर ही नहीं वरन् असम्भव था। अतः संसार के मूल्य-स्तरों में स्थायित्व और समानता न होने के कारण स्वर्ण-प्रमाप टूट गया।

(२) युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप चलाने के लिए विनिमय-दरों के बीच स्थिरता और स्थायित्व बनाए रखना एक कठिन काम हो गया था। जैसा कि हम सब जानते हैं स्वर्ण-प्रमाप के दो मुख्य कारण होते हैं—(क) सोने के स्वतन्त्र आयात-निर्यात द्वारा विनिमय-दरों में स्थिरता रखना, (ख) भिन्न-भिन्न देशों के लागत-व्यय (Costs) और मूल्य-स्तरों (Prices) के बीच ऐसा समायोजन (Adjustment) बनाकर रखना कि जिससे सोने का आना-जाना बना रहे और आयात-ही-आयात या निर्यात-ही-निर्यात न हो। इन दोनों में भी जब-तक दूसरी बात का पालन नहीं

होता तब-तक पहला उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता अर्थात् जब-तक देशों के मूल्य-स्तर समानता में न हो तब-तक विनिमय-दरों को स्थिर और स्थायी नहीं बनाया जा सकता। युद्ध के पश्चात् संसार के मूल्य-स्तरों को समानता में लाकर स्थिर बनाना कठिन हो गया। कहा जाता है कि १९२५ में पौण्ड की विनिमय-दर निश्चित करते समय पौण्ड का कोई १०% बहुमूल्यन (Overvaluation) कर दिया गया था—इसी प्रकार फ्रैन्क (Franc) की विनिमय-दर निश्चित करते समय उसका १०% अवमूल्यन (Undervaluation) कर दिया गया था ॐ। इस प्रकार किसी-किसी स्थान पर तो विनिमय-दर में २०% की विषमता थी जिसे दूर करना असम्भव ही था। इङ्गलैण्ड ने मूल्य-स्तर घटाने के प्रयत्न भी किए और मज़दूरों की मज़दूरी कम करने के प्रस्ताव रक्खे परन्तु कोई सफलता न मिली। मज़दूर मज़दूरी कम करने को तैयार न थे—हड़तालें हुईं, दंगे हुए और अन्त में इङ्गलैण्ड की सरकार को पौण्ड की दर ऊँची ही रखनी पड़ी। इस प्रकार मूल्य-स्तरों की विषमता बनी रही और अन्त में इस विषमता के कारण स्वर्ण-प्रमाप निभाना असम्भव हो गया।

(३) युद्धोत्तर-काल में इङ्गलैण्ड की बैंक-दर उतनी प्रभावशाली और क्रियात्मक नहीं रही जितनी युद्ध से पहले थी। युद्ध से पहले बैंक-दर बढ़ाते ही विदेशों से पूँजी इङ्गलैण्ड में आने लगती थी और इङ्गलैण्ड की पूँजी का बाहर जाना बन्द हो जाता था—इस प्रकार पूँजी को बाहर जाने से रोका जाता था और स्टर्लिङ्ग की माँग बढ़ा दी जाती थी जिससे विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति को सन्तुलन में करके विनिमय-दर स्थिर बनाई जा सके। युद्ध के पश्चात् यह बैंक-दर उतनी प्रभावशाली न रही वरन् अन्य देश इङ्गलैण्ड की बैंक-दर बढ़ाने को उसकी कमज़ोरी का कारण समझने लगे। इससे विदेशी-मुद्रा की माँग और पूर्ति को सन्तुलन में लाने का एक शस्त्र कमज़ोर हो गया और विनिमय-दर के घटने-बढ़ने को रोकने का कोई साधन न रहा जिससे स्वर्ण-प्रमाप को चलाने में काफ़ी कठिनाई होने लगी।

(४) युद्धोत्तर-कालीन राजनैतिक चालों ने भी स्वर्ण-प्रमाप को तोड़ने में सहायता दी। युद्ध के बाद अमेरिका ने कुछ देशों पर युद्धजन्य हानि की पूर्ति (Reparations) करने की सन्धियां कीं तथा कुछ देशों को युद्धकालीन ऋणों का भुगतान चुकाने को बाध्य किया। इससे डॉलरों की माँग एक-साथ बढ़ने लगी और पूँजी की गति एक-मार्गी (One-way traffic) हो गई। इन अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कुछ देश सहन न कर सके और उन्हें इस प्रकार मुद्रा की विनिमय-दर स्थायी बनाने में भी कठिनाई होने लगी। अतः स्वर्ण-प्रमाप न चल सका।

(५) संयुक्तराष्ट्र तथा फ्रांस जैसे लेनदार (Creditor) देशों ने ऊँचे-ऊँचे संरक्षण-करों (Protective duties or Tariffs) द्वारा आयात पर प्रतिबन्ध लगा

ॐ देखिए पीछे—'इङ्गलैण्ड में स्वर्ण-प्रमाप की पुनरावृत्ति'।

दिए। यदि देखा जाय तो संरक्षण-कर-स्वर्ण-प्रमाप चलाने में कोई बाधा नहीं है। १९१४ से पहिले भी संरक्षण-कर थे। परन्तु स्वर्ण-प्रमाप चल ही नहीं सकता जब-तक कि उस देश को जहाँ से सोना निर्यात हो रहा हो, उसके निर्यात बढ़ा कर उसकी मुद्रा की माँग बढ़ाने में सहायता न की जाय। युद्धोत्तर-काल में इस प्रकार की सहायता का नाम भी न रहा। अमेरिका तो जान-बूझ कर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाता रहा जिससे उसका सोना विदेशों को न चला जाय परिणाम-स्वरूप बहुत-बड़ी मात्रा में सोना अमेरिका तथा फ्रांस में चला गया जिसको उन्होंने निष्क्रिय कर दिया अथवा जिसका प्रभाव आन्तरिक कीमतों पर नहीं पड़ने दिया। उधर अन्य देशों में सोने की कमी के कारण मूल्य-स्तर गिरने लगे। फल यह निकला कि स्वर्ण-प्रमाप को तोड़ना पड़ा। किसी ने कहा है कि "स्वार्थी व्यापारिक-पद्धति, वह चाहे राष्ट्र के स्वार्थ में ही क्यों न हो, के सहारे चलकर कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली सफल नहीं हो सकती।"* अमेरिका ने अपना स्वार्थ सोचा और अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप छोड़ दिया।

(६) केन्द्रीय-बैंकों ने अपने-अपने स्वार्थों के वशीभूत हो कर स्वर्ण-प्रमाप के "स्वर्ण-नियमों" (Golden Rules) को भुला दिया। जब उनके देश में सोने का आयात होता तो वे उस सोने को इकट्ठा करते जाते परन्तु साख-प्रसार करके मूल्य-स्तर ऊँचे नहीं करते जिससे सोने का निर्यात भी हो पाता। इसी प्रकार जब उनके देश में से सोना निर्यात होता तो वे खड़े-खड़े देखते रहते परन्तु साख-संकोच करके मूल्य-स्तर नीचे नहीं करते जिससे सोने का आयात भी हो पाता। अमेरिका और फ्राँस इस कार्य में सबसे बड़े दोषी थे। इनके पास सोना बढ़ता गया परन्तु इन्होंने मूल्य-स्तर ऊँचे करके सोने का निर्यात नहीं होने दिया। संसार का लगभग ⅔ सोना इन दोनों देशों के पास जाकर इकट्ठा हो गया। इङ्गलैण्ड भी कम दोषी न था। इङ्गलैण्ड में से सोने का निर्यात होता रहा परन्तु बैंक ऑफ़ इङ्गलैण्ड ने साख-संकोच करके मूल्य-स्तर नीचे नहीं किए। बात कुछ और थी। इङ्गलैण्ड में मूल्य-स्तर पहिले-ही बहुत नीचे थे इसलिए इङ्गलैण्ड साख-संकोच करके मूल्य-स्तर और भी अधिक नीचे नहीं करना चाहता था। इस प्रकार इङ्गलैण्ड में मूल्य-स्तर नीचे थे, अमरीका और फ्राँस में ऊँचे थे। सत्य यह है कि देश-देश के मूल्य-स्तरों में काफ़ी विषमता थी और यह विषमता की खाई इतनी चौड़ी होती जा रही थी कि इसको ब्याज-दर या साख में घटा-बढ़ी करके पाटना लगभग असम्भव था। केवल एक-ही चारा था और वह था स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग।

---

* "It is impossible to have an international financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national.

Outline of Money—Crowther p. 319.

इस प्रकार हमने देखा कि युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रमाप को चलाने के लिए जिन शर्तों की आवश्यकता थी वे पूरी न की गईं—न तो मूल्य-स्तरों में आवश्यक समायोजन किए गए और न सोने की एक-तरफ़ा (One-way traffic) गति को ही रोका गया। संसार दो भागों में बँट गया—(१) वह भाग जहाँ से सोना निकल-निकल कर विदेशों में जाता रहा, (२) वह भाग जहाँ सोना पहुँचता रहा और फिर भी उनकी सोने की भूख बढ़ती ही रही। कुछ देश ऐसे हो गए जहाँ देखने-भर को सोना नहीं था और कुछ देश ऐसे हो गए जहाँ सोने के ढेर थे। कुछ समय तक तो देशों ने दीर्घकालीन-ऋण ले ले कर अपना काम चलाया। इङ्गलैण्ड ने ब्याज की दर बढ़ाकर विदेशों से सोना आकर्षित किया तथा जर्मनी ने अमेरिका में सिक्यूरिटीज़ बेच कर थोड़ा-बहुत सोना प्राप्त किया। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। १९२९ के पश्चात् तो दीर्घकालीन-ऋण देना ही बन्द कर दिया गया। इतना ही नहीं ऋण-दाताओं में एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगा और उन्होंने ऋणी देशों को ऋण भुगतान करने के लिए बाध्य किया। ऋणी देश अपने पूरे-पूरे ऋण भुगतान न कर सके। आस्ट्रिया ने मई १९३१ में तथा जर्मनी ने जुलाई १९३१ में ऋणों का भुगतान करना बन्द कर दिया। इङ्गलैण्ड के ऋण-दाताओं ने तो अपने-अपने ऋणों का भुगतान लेने में सोना ही लेना ही आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक ऑफ़ इङ्गलैण्ड के पास सोने का कोष समाप्त होने को आगया और तभी सितम्बर १९३१ में इङ्गलैण्ड को अन्त में अपनी मुद्रा का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग करना पड़ा। यद्यपि १९३१ का संकट एक-साथ ही अचानक आया परन्तु इसका बीजारोपण कई वर्ष पहिले हो चुका था।

(५) स्वर्ण-प्रमाप का वर्तमान स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष

२७ दिसम्बर, १९४५ को अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष, जिसका विस्तृत-वर्णन आगे किया गया है, के बन जाने से आज स्वर्ण-प्रमाप अपना एक नया रूप लेकर संसार के सामने आया है। मुद्रा कोष में लगभग ५० राष्ट्र सम्मिलित हैं। इन सदस्य-राष्ट्रों ने अपने-अपने निश्चित 'कोटा' (quota) के बराबर सोना और अपनी-अपनी मुद्राऐं कोष में जमा कर दी हैं तथा अपनी-अपनी मुद्रा का सम-मूल्य (Par-Value) सोने में या अमरीकन-डॉलर में व्यक्त कर दिया है। सोने का मूल्य ३५ डॉलर प्रति औंस (ट्राय) निश्चित किया गया है। इन सम-मूल्यों में कोष के नियमानुसार फेर-बदल भी की जा सकती है। कोष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी असुविधाओं को दूर करने के लिए सदस्य-राष्ट्रों के साथ विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता है। विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय सम-मूल्यों से १% से अधिक या कम दर पर ही हो सकता है। यह सीमा इसलिए निश्चित की गई है जिससे विनिमय-

दरों में कोई असाधारण और भारी-भारी उतार-चढ़ाव न हों। यही नहीं, आवश्यकतानुसार कोष विदेशी-मुद्राओं के क्रय-विक्रय की अन्य दर भी निश्चित कर सकता है।

कोष की इस योजना के अनुसार संसार में एक अन्तर्राष्ट्रीय-मौद्रिक-व्यवस्था एवं मौद्रिक-स्थायित्व (Currency Stabilization) स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें स्वर्ण-प्रमाप के कई चिन्ह दीख पड़ते हैं जैसे—

(अ) सोना कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' हैं। सब सदस्यों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का सम-मूल्य (Par-value) सोने में में व्यक्त करके सोने को-ही अपनी मुद्राओं का मूल्याधार बना लिया है।

(ब) कोष के सदस्य-देशों की मुद्राओं की पारस्पारिक-विनिमय-दर कोष द्वारा निश्चित की हुई सीमाओं से अधिक ऊँची-नीची नहीं हो सकती। आपको स्मरण होगा कि प्रथम युद्ध-काल से पूर्व स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत विनिमय-दर "स्वर्ण-बिन्दुओं" (Gold Export and Gold Import Points) के बीच में बदलती रहती थी। परन्तु अब यह दर कोष के द्वारा निर्धारित सीमाओं के बीच बदल सकती हैं।

इस प्रकार आज हमारे सामने स्वर्ण-प्रमाप का एक नया रूप है जिसमें सोना अनेक मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' एवं मूल्य-आधार है। प्रथम युद्ध पूर्व-कालीन स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप की तुलना में इस नए प्रमाप में केवल यह अन्तर है कि इसमें सोने के सिक्के नहीं चलते, सोने का स्वन्त्र-टङ्कण नहीं होता, नोटों तथा अन्य-सहायक-सिक्कों को सोने में नहीं बदला जा सकता, और विनिमय-दर को स्थिर बनाने के लिए विदेशी-विनिमय-नियन्त्रण भी लगाए जा सकते हैं। युद्ध पूर्व-कालीन स्वर्ण-प्रमाप की भांति वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप 'स्वयं-पूर्ण कार्यशील' (automatic) भी नहीं हैं। किन्तु उस पुराने स्वर्ण-प्रमाप की भांति आज के स्वर्ण-प्रमाप में भी भुगतान संतुलन करने के लिए आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न मुद्राओं के सम-मूल्यों में फेर-बदल की जा सकती है और सभी मुद्राओं की दरों में एक-साथ ही सामान्य परिवर्तन भी किया जा सकता है।

कोष-योजना के अन्तर्गत आए हुए वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में लोच है तथा वह दोष नहीं है जिसके कारण सोने का "एक-मार्गी आना-जाना" (one-way traffic) हो कर स्वर्ण-प्रमाप चूर-चूर हो जाय। इसमें स्थिरता है, स्थायित्व है, लोच है तथा समझने की सरलता भी है। प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप का सबसे बड़ा दोष यह निकला कि संसार-भर का सोना कुछ इने-गिने देशों के पास इकट्ठा हो गया। परन्तु वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में यह दोष नहीं दीख पड़ता।

सामान्यतः ऐसा जान पड़ता है कि कोष-योजना का वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप ऐसी शक्ति और कार्य-प्रणाली लेकर जन्मा है जिस पर युद्ध-कालीन अथवा अन्य कोई

भावी संकटों से कोई आँच नहीं आ सकेगी जैसा कि पिछले स्वर्ण-प्रमापों के साथ हुआ था। इस प्रमाप में स्थिरता भी है और समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल बदलने की व्यवस्था भी है। प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों की अपेक्षा वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में निम्न गुण प्रतीत होते हैं :—

(अ) इसमें अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर संसार के राष्ट्रों में मौद्रिक समस्याओं पर पारस्परिक विचार विमर्ष करने तथा सहयोग लेने-देने की व्यवस्था है।

(ब) इसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष की व्यवस्था है जहाँ से सदस्य-देश चालू लेन-देन सम्बन्धी अपनी-अपनी भुगतान-विषमताओं को संतुलित करने के लिए सुविधाएें प्राप्त कर सकते हैं।

(स) इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य संसार में उत्पादन और रोज़गारी की गति को बढ़ाना है जिसके लिए इसमें विनिमय-स्थिरता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक वृद्धि पर काफ़ी ज़ोर दिया गया है। इस वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में विनिमय-दर की स्थिरता को उत्पादन-वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापरिक उन्नति का साधन बना लिया गया है।

इस प्रकार कोष-योजना के अन्तर्गत आए हुए स्वर्ण-प्रमाप में प्राचीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों के सभी गुण हैं परन्तु अवगुण नहीं। आज के संसार में ऐसे स्वर्ण-प्रमाप की आवश्यकता है जिसमें सोने का अपव्यय न हो, सोना नष्ट न हो तथा जिसमें उत्पादन-वृद्धि तथा रोजगारी बढ़ाने को प्रोत्साहन मिले। ये सब गुण वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप में हैं। परन्तु यह तभी चल सकता है जब कोष के सभी सदस्य देश मिलकर इसे सफल बनाने का प्रयत्न करें। जब-तक सभी देश सहयोग के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति में योग नहीं देंगे तब-तक यह नवीन स्वर्ण-प्रमाप भी सफल नहीं हो सकता। हम अभी देख रहे हैं कि संसार में डॉलर की समस्या है। अमरीका से माल आयात करने के लिए अन्य देशों के पास सोना या डॉलर नहीं है। अमरीका भी अन्य देशों से आयात करने में सतर्क नहीं है। यदि ऐसी ही परिस्थिति चलती रही तो डर है कि संकट कहीं गम्भीर रूप धारण करके इस नवीन पद्धति को भी चूर-चूर न कर दे। इस संकट को टॉलने के लिए सब सदस्य-देशों को प्रयत्न करने होंगे अन्यथा इस पद्धति का भी वही भाग्य होगा जो गत इतिहास में अन्य पद्धतियों का होता रहा है।

भविष्य में क्या होगा? यह कहना तो इतना सरल नहीं है परन्तु हां यह कह सकते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष ने एक ओर स्वर्ण-प्रमाप की स्थाई और पुरातन पद्धति का नवीन स्वरुप स्थापित किया है तो दूसरी ओर पुरातन सरल और लोचदार मौद्रिक-व्यवस्था को पुनर्जन्म दिया है"। *

* "The fund is the happy synthesis of orthodox and rigid system of Gold Standard on the one hand, and an orthodox and more conveniently flexible system of monetary management on the other hand."

स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों का तुलनात्मक ऐतिहासिक दिग्दर्शन

प्रथम युद्ध-पूर्व-कालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियाँ (१९१४-१८ से पूर्व)	युद्धोत्तर-कालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति (१९२५-१९३३)	वर्तमान स्वर्णप्र-माप पद्धति १९४५ से स्थापित
(अ) स्वर्ण-मुद्रा-प्रमाप—जिसके अन्तर्गत — (१) सोने के सिक्के चलते थे, (२) सोने के सिक्कों का स्वतन्त्र-टङ्कण था, (३) सोने का स्वतन्त्र आयात-निर्यात था। सोना 'विनिमय-माध्यम' तथा 'मूल्य-मापन' दोनों-ही काम करता था। इसमें विनिमय-दर "स्वर्ण-बिन्दुओं" के बीच में बदलती रहती थी। (ब) स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप —जिसके अन्तर्गत — (१) सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते थे और न सोने के सिक्कों का टङ्कण ही होता था। (२) देश के आन्तरिक प्रयोग के लिए नोट तथा अन्य-सहायक सिक्के चलते थे। (३) सोने का आयात-निर्यात नहीं था वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबन्ध होता था। इस काम के लिए सरकार दो कोष बनाकर रखती थी—एक देश में, दूसरा विदेश में। भारत में इसका प्रयोग १९०७—०८ से १९१७-१८ तक होता रहा था।	स्वर्ण धातु-प्रमाप —युद्धोत्तर-काल में स्वर्ण-प्रामप की पुनरावृत्ति के क्रम में स्वर्ण-धातु प्रमाप की स्थापना हुई इसमें — (१) सोने के सिक्के नहीं चलते थे और न इनका टङ्कण ही होता था, (२) सरकार या केन्द्रीय-बैंक सोने का क्रय-विक्रय करती थी—क्रय-विक्रय निश्चित-दर पर तथा निश्चित-मात्रा में ही हो सकता था। (३) जनता किसी भी कार्य के लिए सरकार से निश्चित-मात्रा में सोने का क्रय-विक्रय कर सकती थी। सोना केवल 'मूल्य-मापक' था 'विनिमय-माध्यम' नहीं। यह पद्धति विशेषतः इङ्गलैण्ड में १९२५ में तथा भारत में १९२७ में स्थापित हुई। अधिकाँश देशों ने युद्धोत्तर काल में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप का ही अवलम्बन किया।	अन्तर्राष्ट्रीय नवीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति—१९४५ में अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष के बन जाने से संसार के सामने स्वर्ण-प्रमाप का एक नवीन रूप आया है जिसमें— (१) सोना मुद्रा-कोष के सदस्य-देशों (लगभग ५०) की मुद्राओं का 'मूल्य-मापक' तथा 'मूल्य-आधार' है। (२) विनिमय-दर को स्थायी व स्थिर बनाना सदस्य-देशों का काम है परन्तु इसमें चालू लेन-देन का भुगतान संतुलन करने के लिए कोष से सहायता ली जा सकती है। (३) विनिमय-दर को स्थायी करने में सदस्य अल्प-कालीन विनिमय-नियन्त्रण भी लगा सकते हैं। सोना मुद्राओं का मूल्य-आधार है; न सोने के सिक्के हैं, न सोने का आयात-निर्यात। परन्तु यह पद्धति स्थायी है, स्थिर है, टिकाऊ है, लोचदार है, परिस्थितियों के अनुकूल है तथा सरल भी है।

(६) स्वर्ण की स्थिति (Position of Gold)

स्वर्ण-प्रमाप का ऐतिहासिक अध्ययन करने के पश्चात् यह जानना बहुत आवश्यक है कि मौद्रिक एवं सामान्य-क्षेत्र में भी सोने की क्या स्थिति रही है और आज क्या स्थिति है ? यहाँ हम सोने की स्थिति पर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

सोने का इतिहास एक रोमाँचकारी इतिहास है। सोना तथा सोना उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए गत इतिहास में भारी-भारी संघर्ष होते रहे हैं। इसके प्रति आकर्षित होने का सबसे प्रमुख कारण यह रहा है यह एक दुर्लभ धातु है तथा इसकी क्रय-शक्ति इतनी व्यापक और विशाल है जितनी किसी अन्य वस्तु की नहीं है। पिछले २०० वर्षों से सोना एक विस्तृत-क्षेत्र में 'मौद्रिक-धातु एवं मुद्रा के अधिकार-कोष' के रूप में काम लाया जाता रहा था परन्तु इस शताब्दी के तीसा (Therties) से सोने का यह कार्य बन्द हो गया। परन्तु फिर भी सोने की क्रय-शक्ति क्रिया के महत्त्व में कोई कमी नहीं आई और आज भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लेन-देन में सोने का एक विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि देखा जाय तो मौद्रिक-क्षेत्र में सोने का महत्त्व अब द्विगुण हो गया है। जहाँ-तक इसकी क्रय-शक्ति का सम्बन्ध है वह समय के साथ-साथ बढ़ती ही रहती है और पहले की अपेक्षा अब अधिक है। उन देशों में जहाँ सोने का लेन-देन और क्रय-विक्रय स्वतन्त्र-रूप से होता है सोने की क्रम-शक्ति बहुत अधिक ऊँची है। उन देशों में भी जहाँ सोने का स्वतन्त्र लेन-देन नहीं होता वहाँ 'काले' और 'भूरे' बाज़ारों में सोने की विनिमय-शक्ति पहले की अपेक्षा-कृत बहुत अधिक है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने सोने का मूल्य ३५ डॉलर = १ औंस (ट्राय) निर्धारित कर रक्खा है परन्तु सोना निकालने वाले देशों में इसका मूल्य इससे कहीं अधिक रहा है। अन्त में हार कर मुद्रा-कोष ने सोना निकालने वाले देशों को किसी भाव पर खुले बाज़ार सोना बेचने की अनुमति देनी पड़ी। इससे ज्ञात होता है कि सोने की स्थिति कैसी ऊँची है और उसका मूल्य कितना अधिक है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के बन जाने से सोने की स्थिति और भी ऊँची हो गई है। कोष ने ऐसी व्यवस्था की है जिसके अन्तर्गत सोना संसार की मुद्राओं का मूल्याधार बन गया है और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में माध्यम का काम करने लगा है। संसार के अनेक देशों की मुद्राओं का मूल-आधार आज भी सोना है जिससे यह संसार में एक-बार फिर 'मूल्य-मापक' बन बैठा है। मौद्रिक-कोषों में सोने का एक विशेष भाग रहा है और यह आज भी है। आज भी सोना एक ऐसी वस्तु है जिसका मूल्य हर स्थान पर, हर व्यक्ति पर तथा हर समय है। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष की योजना के अनुसार सोना आज "अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा" का स्थान पा चुका है। इस प्रकार सोने की स्थिति आज पहले से कोई कम नहीं है। इसके जीवन-इतिहास में बड़ी-बड़ी उथल-पुथल हुई है परन्तु उन सबको पार कर

के भी आज सोना देश-देश के मौद्रिक-कोषों की अपूर्व सम्पत्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की नवीन मुद्रा-पद्धति का मूलाधार हैं संसार की मुद्राओं का मूल्य मापक यन्त्र है तथा अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा है। संसार के मौद्रिक-इतिहास में सोने का विशेष स्थान रहा है और अब भी बना हुआ है।

प्रश्न

(१) स्वर्ण-प्रमाप की ऐतिहासिकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखते हुए वर्तमान स्वर्ण-प्रमाप पद्धति की व्याख्या कीजिए।

(२) प्रथम युद्ध पूर्व-कालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धति को लिखते हुए समझाइये कि उस समय हमारे देश में कौन-सी स्वर्ण-प्रमाप पद्धति थी और उसके विशेष लक्षण क्या-क्या थे?

(३) भारत में स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप के क्या लक्षण थे? युद्ध-काल में यह पद्धति क्यों और कैसे छोड़ दी गई?

(४) स्वर्ण मुद्रा-प्रमाप के लक्षणों की व्याख्या करते हुए समझाइये कि क्या यह पद्धति संसार में आज स्थापित की जा सकती है? यदि नहीं तो क्यों?

(५) युद्धोत्तर-काल में इङ्गलैण्ड ने स्वर्ण-प्रमाप कैसे स्थापित किया? उस पद्धति के मुख्य-मुख्य लक्षणों की मीमांसा कीजिए?

(६) १९२७ के करेन्सी-एक्ट द्वारा हमारे देश में जो मौद्रिक-पद्धति अपनाई गई उसकी विवेचना कीजिए।

(७) युद्धोत्तर-काल में फ्राँस ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके स्वर्ण-प्रमाप क्यों अपनाया? इङ्गलैण्ड के सामने पौण्ड का अवमूल्यन करने में क्या-क्या कठिनाइयां थीं। आलोचनात्मक उत्तर लिखिए।

(८) युद्ध (१९१४—१८) पूर्व-कालीन तथा युद्धोत्तर कालीन स्वर्ण-प्रमाप पद्धतियों का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

(९) सितम्बर १९३१ में इंगलैण्ड को स्वर्ण-प्रमाप क्यों तोड़ना पड़ा? इससे भारत की मुद्रा-पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा?

(१०) स्वर्ण-प्रमाप के वर्तमान-स्वरूप का विश्लेषण हुए प्राचीन स्वर्ण-पद्धतियों से इसका भेद दर्शाइए।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष की योजना के अनुसार संसार में जिस मुद्रा पद्धति को जन्म मिला है—उसका अलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

(१२) स्वर्ण का इतिहास लिखते हुए सोने की वर्तमान परिस्थिति को दर्शाइये। आज के मौद्रिक संसार में सोने का क्या स्थान है?